उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—४ अगस्त—१९८५ अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षट् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	३० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जिस प्रकार छोटे बालक या बालिका को सम्भोग-सुख क्या है यह नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार विषयासक्त संसारी जीव को ब्रह्मानन्द नहीं समझाया जा सकता।

(२)

जिस प्रकार पुल के नीचे नाले का पानी एक ओर से आता और दूसरी ओर से बह निकलता है, उसी प्रकार धार्मिक बातें बद्धजीवों के एक कान से भीतर प्रवेश करती हैं और दूसरे कान से बाहर निकल जाती है, उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(३)

दूसरों को मारने के लिए ढाल-तलवार की जरूरत होती है, स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी ही काफी है। दूसरों को समझाने के लिए अनेकों शास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन करना पड़ता है, पर स्वयं की मुक्ति के लिए किसी एक ही शास्त्रवाक्य पर दृढ़ विश्वास हो तो काफी है।

(४)

मछलियाँ कितनी भी दूर क्यों न हों, अच्छा चारा फेंकते ही वे जैसे दौड़ आती हैं, वैसे ही भगवान् भी श्रद्धा-विश्वासवान् भक्त के हृदय में शीघ्र ही आ प्रकट होते हैं।

श्रीरामकृष्ण

(श्रीरामकृष्णदेव पर रचित बंगला गीतों के अनुवाद)

-स्वामी आत्मानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (मध्यप्रदेश)

(१)

बाउल दादरा

(एसे छे नूतन मानुष.....का अनुवाद)

आये हैं एक नये मानव, देखोगे तो चलो चलें।
विवेक औ वैराग्य झोले, दो कन्धों से सदा झूलें ॥
मुख से वे तो माँ-माँ कहते, गिर पड़ते हैं गंगा में।
ब्रह्ममयी तू ने दर्शन दिये नहीं इस जीवन में ॥१॥
आस्तिक अज्ञों को सिखलाया सहज सरल अति शब्दों में।
जो है काली वही कृष्ण है अन्तर है बस नामों में ॥२॥
एक्वा, वाटर, पानी, वारि, इक जल के ये सारे नाम।
अल्ला गॉड ईसा मूसा, काली सब उसके ही नाम ॥३॥
दीन धनी मानी ज्ञानी जाति न कुल का किया विचार।
होकर आत्मविभोर सभी पर की उनने तो कृपा अपार ॥४॥
दोनों बाहु उठा के पुकारें, आओ रे तुम सब आओ।
तुम लोगों पर कृपा करने, बैठा हूँ आओ आओ
बड़े जतन से बाँधी नौका भव तट पर आओ आओ ॥५॥

(२)

(तुमि कंगाल वेशे एसे छो हरि..... का अनुवाद)

यमन पूर्वी—एकताल

कंगाल वेश में आये हो हरि,
कंगालों पर करुणा करने के लिए।
प्रेम बांटने मरु-सम उर में,
पतितजनों को तारने के लिए ॥
रामकृष्ण नाम में अमृत भरा
देख रूप उनका जुड़ाये ज्वाला।
चरणतल में प्राणों को सौंप के,
चिन्ता भागती दूर से हे प्रभु ॥१॥
करके तव कथामृत पान,
जाग उठा है अवश प्राण।
हताश उर में शत आशा जागे
तुम्हारे मधुर नाम से हे प्रभु ॥२॥

सम्पादकीय सम्बोधन

मानी, देख न कर नादानी

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

यह अगस्त का महीना हम भारतवासियों के लिए एक खास अहमियत रखता है। एक लम्बे संघर्ष के बाद, एक यातना भरी, वर्षों की लड़ाई के बाद, आज से ठीक ३८ वर्ष पहले, हमारा देश स्वाधीन हुआ था—१५ अगस्त, १९४७ ई० को। हमने बड़े-बड़े त्याग किये, कुर्बानियाँ दीं, अपने सपूतों की, माताओं-बहनों की बलि चढ़ायी, तब जाकर कहीं यह देश स्वाधीन हुआ। वस्तुतः हमें अपनी इस उपलब्धि पर गर्व है—होना ही चाहिए।

इन ३८ वर्षों में हमने काफी प्रगति की है, विशेषकर विज्ञान, टेक्नॉलॉजी, कृषि, सिंचाई, यातायात आदि के क्षेत्रों में। यह शुभ है। लेकिन, लगता है कि हमने इन वर्षों में जितना पाया है उससे अधिक, कहीं अधिक, खोया है। साम्प्रदायिक दंगे बढ़े हैं, हिंसाएँ बढ़ी हैं, पापाचार-कदाचार में वृद्धि हुई है, असहिष्णुताओं का जोर है, नैतिक मूल्यों में तेजी से गिरावट आयी है, कुल मिलाकर आदमी ज्यादा बौना हुआ है, ज्यादा कमजोर हुआ है, ज्यादा गिरा है। हम अपनी संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं। एक आपाधापी की, दूसरों को ठेल-गिराकर खुद आगे बढ़ने की, लूट-खसोट की, सत्ता, सम्भोग और सुविधा की, मादक-द्रव्यों के सेवन की, आक्रोश, आतंक और हिंसा की तथा संवेदनहीनता की संस्कृति जाने-अनजाने हम बुनने लगे हैं। यह शोचनीय है।

ऐसा क्यों हो रहा है? हमें इसे गहराई से सोचना चाहिए। हमने जो स्वाधीनता पायी है, वह राजनैतिक स्वाधीनता है। यह सतह की, ऊपरी तल की स्वाधीनता है। और राजनैतिक स्वाधीनता का वृक्ष कहीं-न-कहीं उच्छृंखलता की जमीन पर ही खड़ा-टिका होता है। केवल राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर हम सही अर्थ में स्वाधीन नहीं होते। सच्ची स्वाधीनता 'स्व' के अधीन होने में होती है। जब हम 'स्व' के अधीन होते हैं, यानी अपने 'स्व' को, 'स्वरूप' को, पहचानकर उसमें ही विचरण करते हैं, तब हम उच्छृंखलता से, अनाचार से, अनैतिकता से मुक्त होते हैं। अनाचार के मूल में है—विषय-भोग की उद्दाम, बेलगाम लिप्सा। और 'स्व' की पहचान का अर्थ है – विषय-भोग से पलट जाना, मुड़ जाना। 'न हि स्वात्मारामं विषय मृगतृष्णा भ्रमयति।' अपनी आत्मा में रमण करनेवाला विषयों की मृगतृष्णा में भ्रमण नहीं करता। हमें जानना होगा 'स्व' को। हमें जानना होगा कि "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।" और अपने इसी ब्रह्मभाव को किसी भी प्रकार व्यक्त कर ही हम जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं, स्वाधीन हो सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इसी से कहा था—'कर्म, उपासना, मनः संयम अथवा ज्ञान इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।'

हम अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त कर ही मुक्त यानी स्वाधीन हो सकते हैं। यही सच्ची स्वाधीनता होगी। यह स्वाधीनता ही हमें भोगोन्मुखी संस्कृति से हटाकर त्यागोन्मुखी संस्कृति की ओर, स्वार्थ से हटाकर परमार्थ की ओर, घृणा से हटाकर प्रेम की ओर, हिंसा से हटाकर करुणा की ओर, अधिकारोन्मुखता से पलटकर कर्तव्योन्मुखता की ओर तथा संकीर्णता से हटाकर उदारता और सहिष्णुता की ओर ले जायगी।

हम क्यों नहीं अपनी स्वाधीनता—सच्ची स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर पा रहे हैं? छिलके की आजादी के

लिए, देह की स्वाधीनता के लिए हमने कितनी यातनाएँ झेलीं, कितने संघर्ष किये ! बीज की स्वाधीनता के लिए, आत्मा की स्वाधीनता के लिए, हम क्यों नहीं संघर्ष कर पा रहे हैं ? उत्तर सीधा है। यह हमारे चुनाव पर निर्भर करता है। पशु और मनुष्य में एक गहरा अन्तर यह है कि पशु को, जैसा है वह, उससे भिन्न होने के चुनाव की सुविधा नहीं है, मनुष्य को है। एक पशु जैसा है, वैसा ही बने रहने को अभिशप्त है वह। एक हिंसक पशु अहिंसक नहीं हो सकता। बकरे और मेमने मांस नहीं खा सकते। यह तो मनुष्य है कि वह जैसा है उससे अच्छा, और अच्छा होने की सुविधा उसे है। उसे यह आजादी है कि वह हिंसा की राह चुने या अहिंसा की, लूट-खसोट, राहजनी, बलात्कार और भोग का मार्ग चुने या प्रेम, करुणा, सेवा, शान्ति और योग का मार्ग चुने। मृत्यु का मार्ग चुने या अमरता का, पशुत्व का मार्ग चुने या देवत्व का, स्वर्ग के प्रकाश का मार्ग चुने या नरक के अंधकार का, इस मामले में मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य को चुनाव का अधिकार है। मनुष्य के सामने विकल्प है।

योग का मार्ग स्वधीनता की ओर जाने का मार्ग है, भोग का मार्ग पराधीनता की ओर जाने का।

आत्मा का मार्ग स्वाधीनता की ओर प्रयाण करने का मार्ग है, देह का मार्ग पराधीनता को वरण करने का।

हम फूल की जगह काँटे का चुनाव कर खुश हो रहे हैं। स्वर्ग की जगह नरक का चुनाव कर आनन्द-विभोर हो रहे हैं। योग की जगह भोग, प्रकाश की जगह अंधकार और आत्मा की जगह देह का निर्वाचन कर संतुष्ट हो रहे हैं। यह एक प्रकार से हताशा से भरकर जो मिल जाय उसीका चुनाव करने की नादानी है। यह जीवन के एक पक्ष का चुनाव करने की नादानी है। नहीं; हमें कृष्ण-पक्ष की अपेक्षा शुक्ल-पक्ष को महत्व देना ही होगा। गलत चुनाव के परिणाम भयंकर होंगे ही। कवि का गीत है—

मानी, देख न कर नादानी।
मातम का तम छाया माना
अंतिम सत्य इसे यदि जाना
तो तूने जीवन की अबतक
आधी सुनी कहानी।
मानी, देख न कर नादानी।

अंधकार है, मगर यह जीवन का अंतिम सत्य नहीं है। यह अर्द्ध सत्य है। अंधकार हमारे जीवन का संगीत नहीं हो सकता। भोग हमारा 'स्व' नहीं हो सकता। हम अंधकार के पर्याय नहीं हैं। नहीं; हमें हताश नहीं होना है। हमें अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही होगा। हम ज्योति की, आनन्द की संतति हैं; अमृत-पुत्र हैं, अमरों की संतान हैं। अमरता हमारा लक्ष्य है। अमरता की ओर की यात्रा ही स्वाधीनता की ओर का महाभिनिष्क्रमण है।

सुन, यदि तूने आशा छोड़ी
तो अपनी परिभाषा छोड़ी
तुझे मिली थी यह अमरों की
केवल एक निशानी।
मानी, देख न कर नादानी !

हाँ, हमें आशा पूर्वक, श्रद्धा और विश्वास के साथ अपनी पहचान को, अपनी परिभाषा को, अपने मूल स्वरूप को पकड़े रहने होगा। हमें अपने पूर्वजों से प्रेरणा लेनी होगी। स्वामीजी कहा करते थे—"जहाँ तक हो सके अतीत की ओर देखो, पीछे जो चिरन्तन निर्झर बह रहा है, आकंठ उसका जल पिओ और उसके बाद सामने देखो और भारत को उज्जवलतर, महत्तर और पहले से और भी ऊँचा उठाओ।" प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि वे हम सबको स्वाधीनता की ओर जाने की, सही चुनाव करने की शुभ प्रेरणा प्रदान करें ताकि हम स्वाधीनता में प्रतिष्ठित हो सकें, स्वाधीनता जी सकें और हमारे जीवन में आनन्द का कोई देवता नाच सके, प्रेम का कोई संगीत गूँज सके, करुणा की कोई गंगा उतर सके और शान्ति-विश्रान्ति की कोई झंकार अँगड़ाई ले सके। जय श्रीरामकृष्ण ! जय श्री माँ ! जय स्वामी जी ! ◻

मानवरूपी ईश्वर की सेवा

—स्वामी वीरेश्वरानन्द

(पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान कलकत्ता के इंटेंसिव केयर यूनिट के उद्घाटन के अवसर पर १ जनवरी १९७९ को जो आशीर्वचन दिया था, उसका यह हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञा चैतन्य ने किया है। इसे हमने विवेक ज्योति, के वर्ष २१ अंक १ से साभार लिया है। स्मरणीय है कि 'सेवा प्रतिष्ठान' आधुनिकतम उपकरणों एवं सुविधाओं से युक्त ५३५ शय्याओं का एक वृहत् चिकित्सालय है।—स०)

मैं आप सभी से आज यहाँ मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे याद आ रही है इस संस्था की साधारण-सी शुरुआत की। १९३२ ई० में बकुल बागान में नारी-रोगिणियों की प्रसव से पूर्व और पश्चात् देख-भाल के लिए एक दातव्य प्रसूति केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना की गयी थी। १९३९ ई० में भवन-निर्माण पूरा हो जाने पर इसे वर्तमान स्थान पर ले आया गया था। उसके बाद २५ वर्षों तक इसने एक प्रसूति-चिकित्सालय के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं। दिनोंदिन इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। तब मिशन के अधिकारियों ने इसे एक सर्वांगीण अस्पताल का रूप देना उचित समझा। अतः इसमें ६० नये बिस्तरों का योग करके इसे पुरुषों, महिलाओं और बच्चों, सबके लिए उपयोगी एक सार्वजनिक अस्पताल बना दिया गया। तब से यह संस्था विभिन्न दिशाओं में उत्तरोत्तर उन्नति करती रही है और आज इस महानगर की जनता को चिकित्सा-सेवा प्रदान करनेवाली प्रमुख चिकित्सा-संस्थानों में से एक है। यह कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त एक पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षण और शोध-संस्थान भी है। मुझसे इस अस्पताल की सातवीं मंजिल पर अवस्थित १२ बिस्तरों से युक्त 'इन्टेंसिव केयर यूनिट' का उद्घाटन करने को कहा गया है। अब तक यह यूनिट ३ बिस्तरों के द्वारा ही कार्य करता रहा है। मैं प्रसन्नतापूर्वक इसका उद्घाटन करता हूँ।

इस अवसर पर मैं आप लोगों के समक्ष श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों द्वारा प्रतिपादित सेवा का आदर्श रखूँगा, जिन्हें ऐसी संस्थाओं में कार्य करते समय हमें भूलना नहीं चाहिए। यह मात्र एक अस्पताल नहीं है वरन् आध्यात्मिक और धर्म-साधना का भी एक केन्द्र है।

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों के आधार पर स्वामी विवेकानन्दजी ने 'जीव ही शिव है' का आदर्श दिया और यही आदर्श इस संस्था और हमारे सभी कार्यों के मूल में है। स्वामी जी ने हमें मानव में ईश्वर की सेवा करने का आदेश दिया है। यदि हम मानवतारूपी ईश्वर की सेवा करें, तो इससे हमें मन्दिर में पूजा करने के समान ही आध्यात्मिक प्रगति में सहायता मिलेगी। मन्दिर में हम पत्थर के विग्रह में प्राण-प्रतिष्ठा कर विविध पदार्थों से उसकी पूजा करते हैं, जबकि इस पूजा में प्राण-प्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मानवमूर्त्ति में तो प्राण प्रतिष्ठित हैं ही। अतः यदि हम इस तथ्य की ओर ध्यान दें और मानवता की सेवा करें तो वह मन्दिर में पूजा करने से किसी मायने में कम न होगा। हाँ, पूजा के उपकरण भिन्न प्रकार के होंगे। मन्दिर में हम पुष्प-धूप आदि का निवेदन करते हैं, जब कि इस पूजा में औषधियाँ, भोजन आदि का। पर दोनों के पीछे भाव एक ही है। इसीलिए स्वामीजी ने

हमें मानवता में निहित ईश्वरत्व को देखने और सेवा करने का निर्देश दिया है; क्योंकि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही चिकित्सा, शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रों में विविध प्रकार के सत्कार्यों द्वारा समाज की भी सेवा होती है। अतः इस महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इस संस्था के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उन्हें इस आदर्श के पालन में जरा-सा भी अतिरिक्त समय, शक्ति या धन का व्यय करना न होगा। करना बस इतना ही होगा कि कर्म करते समय उन्हें अपना मानसिक दृष्टिकोण बदल लेना होगा और रोगी की सेवा करते समय उसके अन्दर ईश्वरत्व और देवत्व देखना होगा। इससे उन्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायता मिलेगी। किसी भी युग में ईश्वरोपलब्धि का पथ इतना आसान नहीं हुआ था। स्वामीजी के इस नये आदर्श के अनुसार अब हमें वन में जाकर ध्यान में बैठने की अथवा पूजा आदि करने की आवश्यकता नहीं है। रोगियों की सेवा करते समय सिर्फ हमें अपना दृष्टिकोण बदल लेना होगा। इससे हमारा कार्य बड़ा आसान हो जाता है। इतना ही नहीं, यह हमें एक वर्गहीन समाज, जिसके लिए आजकल प्रयास चल रहा है, की शुरुआत करने में भी सहायक होगा। कारण यदि हम प्रत्येक मनुष्य में उसी एक ईश्वर को देखें तो इस जगत् में हम जिन विषमताओं को देखने के आदी हैं, वे लुप्त हो जाएँगी। रह जायगी मात्र एक मानवता, जिसके माध्यम से शाश्वत आत्मा स्पन्दित हो रही है। इस प्रकार बिना अधिक कष्टसाध्य परिश्रम के समाज में वर्गहीनता लायी जा सकती है। इस नये आदर्श को लाने में किसी लड़ाई-झगड़े या संघर्ष की भी आवश्यकता नहीं है। फिर स्वामीजी द्वारा प्रचारित इस नये आदर्श में एक बड़ा लाभ है।

आज धनिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे गरीबों और उनकी उन्नति के लिए कार्य करें। जैसे मानव-शरीर में रक्त-संचार होता है, वैसे ही समाज या राष्ट्र-शरीर में सम्पत्ति का संचार होना चाहिए। रक्त का संचरण यदि शरीर के किसी अंग में न हो, तो वह अंग शिथिल होकर उस मनुष्य के जीवन को खतरे में डाल देगा। इसी प्रकार यदि समाज या राष्ट्र के किसी अंग में धन का संचार नहीं होता, तो वह अंग शिथिल होकर अन्त में उस पूरे समाज या राष्ट्र के विनाश का कारण होता है। यह बात स्मरणीय है कि राष्ट्र के और दूसरों के हित में ही हमारा हित भी निहित है। जिनके पास धन है, उन्हें उसका एक अंश निर्धनों के आर्थिक-विकास में लगाना चाहिए, इसी में उनका कल्याण है। स्वार्थी व्यक्ति को आनन्द-लाभ असम्भव है। एकमात्र निःस्वार्थता ही आनन्द प्रदान करनेवाली है। हमारी प्रसन्नता दूसरों की प्रसन्नता पर और हमारी भलाई दूसरों की भलाई पर आश्रित है, यह तत्व यदि भूला दिया गया, तो प्रसन्नता-लाभ असम्भव है।

मुझे स्वामीजी के जीवन की एक घटना याद आ रही है। तब वे अमेरिका में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे, समाचार-पत्रों में उनके बारे में लिखा जा रहा था और सर्वत्र उन्हीं की चर्चा चल रही थी। विख्यात धनकुबेर जॉन डी० रॉकफेलर ने अपने मित्रों को बार-बार इस असाधारण और अद्भुत हिन्दू संन्यासी की चर्चा करते हुए पाया। कई बार उन्हें स्वामीजी से मिलने का आमंत्रण भी मिला, पर किसी-न-किसी कारणवश उन्होंने हर बार टाल दिया। उन दिनों रॉकफेलर यद्यपि अपने भाग्य के चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचे थे फिर भी वे एक शक्तिशाली और दृढ़ इच्छा-सम्पन्न व्यक्ति थे! उनसे कोई भी बात मनवाना असम्भव-सा था।

यद्यपि उनकी स्वामीजी से मिलने की इच्छा न थी, पर एक दिन वे एक मनोवेग से प्रेरित हो सीधे अपने उस मित्र के घर जा पहुँचे, जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे। रसोइये ने दरवाजा खोला और वे उसे धक्का देते हुए अन्दर घुस गये और बोले कि हिन्दू संन्यासी से मिलना

चाहते हैं। रसोइये ने उनके ठहरने के कमरे की ओर इंगित किया और रॉकफेलर बिना सूचना दिये या इन्तजार किये स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में जा पहुँचे। यह देखकर उनके विस्मय की सीमा न रही कि लिखने की मेज पर बैठे हुए स्वामीजी ने नवागन्तुक की ओर नजर तक न उठायी।

कुछ क्षणों की खामोशी के बाद स्वामीजी ने रॉकफेलर को उनके बीते हुए जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी बातें बतायीं, जो स्वयं उनको छोड़ दूसरा कोई न जानता था। साथ ही उन्होंने रॉकफेलर को यह भी समझा दिया कि जो धन एकत्र किया है, वह उनका अपना नहीं है, वरन् वे उस धन के मात्र एक न्यासी हैं और उनका कर्त्तव्य है जगत् का हित करना। ईश्वर ने उन्हें धनाढ्य इसीलिए बनाया है कि वे लोगों की सहायता और सेवा का सुयोग पा सकें।

भला कोई रॉकफेलर को यह बतलाने का साहस करे कि उन्हें क्या करना चाहिए! वे चिढ़ गये और बिना विदा माँगे ही कमरे से बाहर निकल आये। लगभग एक सप्ताह के बाद वे फिर बिना किसी पूर्व सूचना के आये और स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में दाखिल हो गये। उन्होंने उन्हें उसी मुद्रा में बैठे देख उनकी मेज पर एक कागज फेंक दिया, जिसमें एक सार्वजनिक संस्था को दान के रूप में एक बड़ी धनराशि देने की योजना थी।

रॉकफेलर ने कहा, "महाशय! अब तो आप सन्तुष्ट होंगे और मुझे इसके लिए धन्यवाद देंगे।" स्वामीजी ने न तो आँखें ही उठायीं और न अपनी जगह से हिले ही। कागज को हाथ में उठाकर पढ़ते हुए बोले, "बल्कि चाहिए यह कि आप मुझे धन्यवाद दें!" जन-हितार्थ रॉकफेलर का यह पहला बड़ा दान था।

हमारे देश के धनी नागरिकों को भी इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए, ताकि लोगों के बीच की खाई ज्यादा गहरी न हो। यह वैषम्य धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी दूर किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के साथ दूसरों की सेवा का महान् आदर्श न केवल भगवान्-लाभ में हमारी सहायता करेगा अपितु वह एक विश्वव्यापी वर्गहीन समाज की स्थापना में भी सहायक होगा।

मैं एक बार फिर इस संस्था के कार्यकर्त्ताओं से अपील करूँगा कि वे स्वामीजी के 'जीव ही शिव है' इस महान् आदर्श की आजमाइश करें। मैंने पहले ही कहा है कि हमें रत्ती भर भी अतिरिक्त समय या शक्ति का व्यय करना न होगा। हमें सिर्फ अपना मानसिक दृष्टिकोण बदल लेना होगा। इससे हमें ईश्वरोपलब्धि के मार्ग में एक महान् गति मिलेगी। डाक्टर, नर्स तथा अन्य सभी कर्मचारी, जो यहाँ काम करते हैं, इस महान् आदर्श का पालन कर सकते हैं। इससे उन्हें अपने साधन-पथ में सहायता मिलेगी और संस्थान का कार्य भी सुचारु रूप से चलेगा। रोगियों को भी, जो इस अस्पताल में इलाज कराने आते हैं, बड़ी राहत मिलेगी। मुझे आशा है कि आप सभी बहुजनहिताय बहुजनसुखाय इस महान् आदर्श की आजमाइश करेंगे।

मैं इस संस्था के डाक्टरों, नर्सों, कर्मचारियों और प्रबन्धक समिति के सभी सदस्यों के प्रति बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे आप सबसे मिलने और वार्तालाप करने का सुअवसर प्रदान किया है।

१५ अगस्त :
स्वाधीनता दिवस के अवसर पर

मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी।

स्वामी विवेकानन्द से एक बार किसी ने पूछा था, "आप भारत को स्वाधीन करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया था, "मैं कल राष्ट्र को स्वाधीनता दिला सकता हूँ, लेकिन उसकी रक्षा करने वाले मनुष्य कहाँ हैं ?"

आज स्वाधीनता के ३८ वर्ष बाद तथा स्वामी विवेकानन्द के कथन के लगभग ८७ वर्ष बाद हम उसी समस्या का सामना कर रहे हैं जिसकी ओर स्वामीजी ने इंगित किया था। इस सन्दर्भ में यदि स्वामीजी के सन्देश एवं जीवनादर्श को कुछ ही शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाय तो वह है : "मनुष्य निर्माण करना" और इसका उपाय है, शिक्षा। स्वामीजी ने कहा था : "हम मनुष्य बनाने वाला धर्म चाहते हैं; हम मनुष्य बनाने वाले सिद्धान्त चाहते हैं। हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में मनुष्य बनाने वाली शिक्षा चाहते हैं।

शिक्षा, मानव की उन्नति एवं विकास का एक महत्वपूर्ण उपादान है। एक श्रेष्ठ शिक्षा-पद्धति पर ही राष्ट्र के भावी नागरिकों का निर्माण तथा उसका भविष्य निर्भर करता है। लेकिन दुर्भाग्य है कि यही एक ऐसा विषय है जिसकी हमारे नेताओं तथा राष्ट्रीय योजना बनाने वालों ने सबसे अधिक उपेक्षा की है। दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द ने अपने सन्देश में शिक्षा को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है। राष्ट्रीय पुनर्जागरण का विषय हो या सामाजिक सुधार का, नारीजाति के उत्थान का विषय हो या जनसाधारण की समस्याओं का, व्यक्तिगत विकास का प्रश्न हो या सामूहिक विकास का, स्वामीजी जिस एक उपाय पर बार-बार बल देते हैं, वह है, शिक्षा।

शिक्षा की परिभाषा —

लेकिन शिक्षा आखिर है क्या ? स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।" यह परिभाषा स्वामीजी के एक दूसरे महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके अनुसार प्रत्येक आत्मा मूलतः ब्रह्मस्वरूप है, तथा समग्र ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव में पूर्णरूप में अन्तर्निहित है। मनुष्य जो कुछ जानता है, वह वस्तुतः आविष्कार मात्र करता है, अनावृत करता है। एक मानव का दूसरे मानव से अन्तर, यही नहीं, एक छोटे से अमीबा और बुद्ध में अन्तर केवल अन्तर्निहित ज्ञान की अभिव्यक्ति का अन्तर है। अमीबा में वही ज्ञान आवृत, प्रसुप्त एवं सबसे कम अभिव्यक्त है, जबकि वह बुद्ध में पूर्णरूप से अभिव्यक्त है। शिक्षा का कार्य अन्तर्निहित ज्ञान के आवरणों को दूर करना मात्र है।

आत्मविश्वास का संचार—

उपर्युक्त सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सभी को आत्मनिर्भर होना सिखाता है। जब समस्त ज्ञान मुझमें ही पहले से विद्यमान है, तब मैं अपने को दुर्बल या अज्ञ क्यों समझूँ ? अतः भारतीय युवा-वर्ग को स्वामी विवेकानन्द से जो पहला

सबक सीखना है, वह है आत्म-विश्वास तथा अपने मस्तिष्क में किसी भी प्रकार के दुर्बल करने वाले विचार को प्रवेश न करने देना। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं : "यूरोप के अनेक नगरों की यात्रा करते समय वहाँ के गरीबों तक के लिए अमन-चैन और शिक्षा की सुविधाओं को देखकर मेरे मन में अपने देश के गरीबों की दशा का दृश्य खिच जाता था। ऐसा अन्तर क्यों हुआ ? उत्तर मिला—शिक्षा। शिक्षा से आत्मविश्वास आता है, और आत्मविश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्म-भाव जाग उठता है। भारतीय युवक-युवतियों को अपने आप में यह विश्वास रखना है कि वे सब कुछ कर सकते हैं। वे स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। वे चाहें तो ओलम्पिक-विजयी श्रेष्ठ खिलाड़ी बन सकते हैं; प्रयत्न करने पर महान् दार्शनिक अथवा विश्वविख्यात वैज्ञानिक, यही नहीं, पुरातन ऋषियों के समान ब्रह्मज्ञ ऋषि भी बन सकते हैं।

अतः स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा-प्रणाली का प्रथम सोपान एक विधायक, सकारात्मक शिक्षा प्रदान करना है जो शिक्षार्थी को स्वयं में तथा उसके भीतर प्रसुप्त महान शक्ति एवं ज्ञान—पूर्णता में, अपने पूर्व पुरुषों, अपनी संस्कृति एवं अपने राष्ट्र की गौरवशाली परम्पराओं में विश्वास करना सिखाए।

प्रकृति का नियमन —

प्रत्येक में अन्तर्निहित पूर्णत्व सदा अभिव्यक्त होने के लिए प्रयत्नशील है, लेकिन इसमें उसे प्रकृति की शक्तियों का सामना करना पड़ता है, जो इसे रोकने में सतत् प्रयत्नशील रहती हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मानव तभी तक मानव है जब तक वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये संघर्ष करता है। और यह प्रकृति दो प्रकार की है अन्तःप्रकृति तथा बाह्य-प्रकृति। बाह्य-प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में गौरव है। लेकिन अन्तः प्रकृति पर विजय प्राप्त करना उससे भी अधिक गौरव की बात है। ग्रह-नक्षत्रों को नियंत्रित करनेवाले नियमों को जानना अच्छा है; लेकिन मानव की वासनाओं, भावनाओं एवं इच्छाओं को परिचालित करनेवाले नियमों को जानना अनन्त गुना अधिक गौरवपूर्ण है। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, खगोल-विज्ञान आदि भौतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की आधुनिक शिक्षा बाह्य प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्रदान करती है, जिनकी सहायता से प्रकृति की इन बाह्य शक्तियों का नियमन तथा सदुपयोग किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, विद्युत-विज्ञान के ज्ञान द्वारा हम बिजली का उपयोग अपने घरों को आलोकित करने, पानी गरम करने तथा रेडियो बजाने में कर सकते हैं। बेतार (wireless) के सिद्धान्त के द्वारा हम रेडियो का आविष्कार कर हजारों मील दूर की ध्वनि सुनने में समर्थ हुए हैं। वायुयान बनाकर हमने नभ पर तथा पनडुब्बियों के द्वारा सागर पर विजय प्राप्त की है।

लेकिन आधुनिक शिक्षा मानव के मन के बारे में बहुत कम ज्ञान प्रदान करती है। यह ठीक है कि आधुनिक मनोविज्ञान मन के स्वरूप का कुछ ज्ञान अवश्य प्रदान करता है। लेकिन पाठ्यक्रम के किसी भी स्तर पर विद्यार्थी को अपने चंचल मन को एकाग्र करना, अपनी वासनाओं को नियंत्रित करना तथा अहंकार पर विजय प्राप्त करना नहीं सिखाया जाता। प्रबल भोग-वासनाओं, अहं-प्रेरित क्रिया-कलापों एवं निरंतर वर्धमान लोभ-वृत्ति को नियंत्रित करना बाह्य प्रकृति के नियमन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसके अभाव में बाह्य प्रकृति की शक्तियों के स्वार्थपरक, एवं मानव जाति के हित के विपरीत दुरुपयोग की संभावना रहेगी। स्वामी विवेकानन्द ने इसीलिए अन्तः प्रकृति के नियमन की शिक्षा पर अधिक बल दिया है।

शिक्षा कैसी हो—

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का उद्देश्य मनुष्य निर्माण होना चाहिए। जिस अभ्यास अथवा प्रशिक्षण से मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रवाह संयमित हो, फलदायी बन सके,

उसी का नाम शिक्षा है।" "हम चाहते हैं जीवन निर्माणकारी, मनुष्य-निर्माणकारी, चरित्र गठनकारी विचारों को आत्मसात करना।

वास्तविक 'मनुष्य' कौन है ?

श्रीरामकृष्ण के अनुसार मनुष्य वह है जिसे अपने आध्यात्मिक चैतन्यस्वरूप का भान हो गया है। यह जानना कि हम देह-मन के संघात मात्र नहीं हैं, बल्कि जन्म-मरण रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हैं—मनुष्यत्व का लक्षण है। यह पारमार्थिक सत्य भारतीय संस्कृति का पुरातन काल से आधार रहा है, और समग्र मानव-निर्माणकारी भारतीय शिक्षा का यही केन्द्र होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने एक आदर्श मनुष्य के गुणों का वर्णन विभिन्न अवसरों पर किया है। वे कहते हैं कि वास्तविक मनुष्य वह है जो स्वयं शक्ति के समान शक्तिशाली होते हुए भी जिसका हृदय नारी के समान कोमल हो। उसमें अपने आस-पास के असंख्य नर-नारियों के दुःखों का अनुभव करने की क्षमता होनी चाहिए और साथ ही उसे वज्र के समान कठोर भी होना चाहिए। एक श्रेष्ठ मानव में ये आपाततः विरोधी गुण होने चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं: "महान् आदर्शवाद के साथ ही व्यावहारिकता का अपने जीवन में समावेश करने का प्रयत्न करो। तुम्हें इस क्षण गहरे ध्यान में डूबने में समर्थ होना चाहिए और दूसरे ही क्षण खेतों में जाकर खेती करने की भी क्षमता होनी चाहिए। तुम्हें शास्त्रों के गूढ़ तत्वों की व्याख्या करने में समर्थ होना चाहिए और दूसरे ही क्षण खेत के उत्पादन को बाजार में बेच आने की क्षमता भी होनी चाहिए"। "आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु; दुर्दमनीय, प्रचण्ड इच्छाशक्ति जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस किसी उपाय से भी हो, अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो।"

संक्षेप में श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो अपने चैतन्य आत्मस्वरूप का ज्ञाता हो, जो शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सबल एवं स्वस्थ हो तथा जिसके हृदय, मस्तिष्क एवं कार्यक्षमता सन्तुलित एवं पूर्ण-विकसित हों।

मनुष्य निर्माण की योजना —

स्वस्थ एवं सबल शरीर सर्वप्रथम आवश्यकता है। यह नियमित व्यायाम, पौष्टिक आहार एवं ब्रह्मचर्य द्वारा गढ़ा जा सकता है।

व्यक्तित्व के सभी पक्षों के सन्तुलित विकास के लिए उपयोगी प्रणाली को स्वामी विवेकानन्द ने 'चार योगों' की संज्ञा दी है। चित्त-वृत्तियों के निरोध द्वारा मन को एकाग्र करने की विधि राजयोग कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन निर्धारित समय पर एक स्थिर आसन में बैठकर अपने मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर सकता है। इससे मन की विक्षिप्त शक्तियाँ केन्द्रित होंगी, तथा इस संचित शक्ति का अन्य क्षेत्रों में उपयोग कर एक विद्यार्थी शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। विद्यार्थी की स्मरण-शक्ति इस अभ्यास से प्रखर होगी तथा वह पहले से कम प्रयास के द्वारा अपने विषयों को आयत्त कर सकेगा।

सामान्यतः हमारा मन उसकी रुचि के विषयों में आसानी से एकाग्र हो जाता है, लेकिन अन्य विषयों में उसे एकाग्र करना कठिन होता है। एक विद्यार्थी खेल का आंखों देखा हाल पूरी तन्मयता से सुनता है, पर अध्यापक द्वारा पढ़ाया जा रहा पाठ नहीं। वह कहानी-उपन्यास पढ़ने में कोई अड़चन महसूस नहीं करता, पर पाठ्यपुस्तकें पढ़ने में मन को लगा नहीं पाता। लेकिन मन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने के लिए जितनी एकाग्रता की आवश्यकता है, उतनी ही अनासक्ति की भी, जिससे मन को स्वेच्छानुसार किसी भी विषय से हटाया जा सके। गीली मिट्टी के एक लोंदे को किसी भी दीवार पर फेंककर चिपकाया जा सकता है। उसे पुनः उस दीवार से पूरा का पूरा निकालकर दूसरी दीवार पर फेंककर चिपकाया जा

सकता है। मन पर भी ठीक इसी प्रकार का नियंत्रण होना चाहिए। अतः एकाग्रता के साथ अनासक्ति भी आवश्यक है, जो कर्मयोग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। छोटे-बड़े सभी कर्मों को पूरे मनोयोग से फलाकांक्षा त्याग कर भगवत्समर्पित बुद्धि से करना कर्मयोग कहलाता है। निष्काम भाव से भगवत् प्रीत्यर्थ किया गया कोई भी कर्म हीन नहीं है। झाड़ू लगाने से पूजा करने तक, प्रवचन देने से खेत में हल चलाने तक, सभी कार्य प्रभु के लिए करने पर आराधना ही हैं।

विभिन्न प्रकार के कला-कौशलों को सुचारु रूप से कर पाना उस कर्म-विशेष की शिक्षा अथवा प्रशिक्षण पर निर्भर करता है। वर्तमान एक ही ढर्रे वाली शिक्षा में जो मुख्यतः मात्र बौद्धिक शिक्षा ही है, विद्यार्थी की कर्मदक्षता पर अधिक बल नहीं दिया जाता। अतः विद्यार्थियों को बढ़ई का कार्य, यांत्रिक (मेकेनिक) का कार्य, टंक लेखन आदि छोटे-मोटे कौशल स्वयं अपने प्रयत्न से सीखने होंगे। यह कार्य वह अपने खाली समय में आसानी से कर सकता है।

हृदय की भावनाओं का सदुपयोग एवं उदात्तीकरण का उपाय भक्तियोग है। प्रत्येक मानव में प्रेम, करुणा दया आदि भावनाएँ स्वभावतः ही रहती हैं, लेकिन ये सामान्यतः "मैं" तथा "मेरा" पर ही केन्द्रित रहती हैं। इन्हें भगवान् की ओर मोड़ना तथा अपने छोटे-से अहं-केन्द्रित दायरे को त्याग कर समग्र मानव-जाति की ओर प्रसारित करना आवश्यक है। भजन-कीर्तन, पूजा एवं भक्ति-ग्रन्थों के पाठ द्वारा भक्ति का प्रारंभ किया जाता है, जो धीरे-धीरे वर्धित हो अन्त में भगवान् के प्रति अनन्य एकनिष्ठ प्रेम में परिणत हो जाती है।

सर्वभूतों में भगवान् का वास है। अतः भगवान् को प्रेम करने का अर्थ सब प्राणियों से प्रेम करना भी है। हम अपने सगे-सम्बन्धियों एवं प्रियजनों के दुःख में तो दुःखी होते हैं, लेकिन संसार के असंख्य, दुःखी, पीड़ित, दरिद्र लोगों के दुःख का अनुभव स्वयं नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि हम विरले ही कभी उनके संपर्क में आते हैं। हम अपने परिवार अथवा संकुचित सामाजिक दायरे में ही बन्द रहते हैं। हृदय की विशालता के लिए अपने पास-पड़ोस के लोगों से मिलना-जुलना एवं उनकी समस्याओं को समझने का प्रयत्न करना आवश्यक है। यह कार्य युवा-वर्ग बड़ी आसानी से कर सकता है। विद्यालयों अथवा अपने कार्यालयों से अवकाश मिलने पर वे अपने दो-चार साथियों के साथ गरीबों एवं हरिजनों की बस्तियों में जाकर उनकी समस्याएँ समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। यह कार्य उनकी शिक्षा का एक अनिवार्य अंग होना चाहिए। अगर विद्यालयीय स्तर पर यह संभव न हो तो इसे युवक व्यक्तिगत रूप से कर सकते हैं। गरीब अज्ञानी भारतवासियों से यह संपर्क उनमें यह भाव जगायेगा कि ये सभी उनके भाई हैं। तब वे कह सकेंगे—"गरीब भारतवासी, अज्ञानी भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी मेरे भाई हैं।"

लेकिन यही पर्याप्त नहीं है। स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि इन दरिद्र, रोगी, पीड़ितों की शिव ज्ञान से सेवा की जाय। भूखों को अन्नदान, नंगों को वस्त्रदान, अज्ञानी को विद्यादान; सर्वोपरि इन आर्त लोगों में आत्मविश्वास जगाकर अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता करना—और वह भी भगवद्बुद्धि से—यह आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ पूजा, वर्तमान काल की सर्वोत्कृष्ट साधना तथा मानव-निर्माणकारी शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। क्या भारतीय युवा-वर्ग इस कार्य को नहीं कर सकता?

शास्त्रों का पठन-पाठन एवं सूक्ष्म विवेचन ज्ञान योग के अन्तर्गत आता है। विश्व का ज्ञान-भंडार अनन्त है। इसके एक अकिंचन, छोटे-से अंश की शिक्षा विद्यालयों में दी जाती है। अपने पाठ्य विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों का अध्ययन विद्यार्थियों को स्वयं करना होगा। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने संस्कृत, दर्शन, इतिहास, शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान आदि विषयों का ज्ञान अपने विद्यालयीय कार्यक्रम से भिन्न समय में अर्जित किया था।

चरित्र गठनकारी शिक्षा —

हमारा छोटा-बड़ा, शारीरिक अथवा मानसिक प्रत्येक कार्य हमारे मस्तिष्क पर एक छाप, एक प्रभाव छोड़ जाता है। यह प्रभाव उसी प्रकार के कार्य को पुनः दुहराने का हेतु बन जाता है तथा उसे बार-बार करने की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि एक बार चोरी करने पर व्यक्ति पुनः चोरी में प्रवृत्त होता है। ये बार-बार दुहराये गये कार्य आदत बन जाते हैं, एवं इन्हीं शुभाशुभ आदतों का समूह चरित्र कहलाता है। जो व्यक्ति अपने सत्स्वभाव को भय अथवा लालच या अन्य किसी कारण से भी नहीं त्यागता उसका चरित्र बृढ़ प्रतिष्ठ कहलाता है। जैसा कि कहा गया है :

कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आये या जाये।
लाखों वर्षों तक जीयूँ या मृत्यु आज ही आ जाये॥
अथवा कोई कैसा भी भय का लालच देने आये।
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पथ डिगने पाये॥

आज हमें भारत में ऐसे हजारों चरित्रवान युवकों की आवश्यकता है जो लाख रुपये के प्रलोभन से भी राष्ट्र के सुरक्षा-रहस्यों को शत्रु के हाथों न बेचें; अथवा क्षणिक उत्तेजना में आकर हत्या या अन्य अपराध न कर बैठें। ऐसा दृढ़चरित्र दीर्घ साधना एवं अथक प्रयत्न द्वारा ही निर्मित हो सकता है। प्रत्येक युवक प्रतिदिन छोटे-छोटे शुभ कार्य करें। इन्हें दुहराने से उसकी इच्छा शक्ति भी बलवती होगी। प्रतिदिन सूर्योदय के पूर्व शय्या त्यागकर भगवान् स्मरण करना; नित्य सत्साहित्य का पाठ करना; सत्य वचन कहना, नियमितता रखना, गरीब, असहाय, आर्तों की सहायता करना, अपनी छोटी-छोटी वासनाओं का त्याग करना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जिनके नित्य अभ्यास से महान् चरित्र की नींव डाली जा सकती है।

आदर्शों को आत्मसात करना—

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं : 'शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। यदि तुम केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हो तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो।'

उपर्युक्त कथन को कुछ दृष्टान्तों की सहायता से समझा जा सकता है। भारतीय इतिहास का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि भाई-भाई के झगड़ों, आन्तरिक कलह एवं शासकों की भोग लिप्सा के कारण भारत बार-बार गुलामी की बेड़ियों से जकड़ा गया है। यह सम्भव है कि एक विद्यार्थी इतिहास की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर भी इतिहास की इस सीख को जीवन में न उतार सके। वह पढ़-लिखकर इतिहास का अध्यापक बन जाने पर भी अपने भाई या पड़ोसी से झगड़ा करता रह सकता है। ऐसी स्थिति में यही कहा जायगा कि उसने इतिहास की बौद्धिक जानकारी मात्र प्राप्त की है, शिक्षा नहीं। नागरिकशास्त्र हमें सिखाता है कि गंदगी से बीमारियाँ फैलती हैं। अगर एक विद्यार्थी नागरिकशास्त्र में सर्वोच्च अंक प्राप्त करके भी गंदा रहता हो, अथवा सड़क पर कूड़ा-कर्कट फेंक रोगों को प्रोत्साहित करता हो, तो परीक्षा में पास होने पर भी वह शिक्षित नहीं कहला सकता। विज्ञान का स्नातक अपने विचारों एवं जीवन पद्धति में अवैज्ञानिक अन्धविश्वासी और कट्टर हो सकता है। ये उदाहरण मात्र जानकारी प्राप्त करने और आदर्शों को आत्मसात करने में अन्तर स्पष्ट कर देंगे। विद्या की प्रत्येक शाखा में बौद्धिक ज्ञान के अतिरिक्त जीवनोपयोगी आदर्श एवं सिद्धान्त भी निहित रहते हैं, जिनको अपने जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान किये बिना बौद्धिक शिक्षा मात्र की कोई उपयोगिता नहीं है। विद्यार्थी को अपने अध्ययन-काल में इस बात की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

कुछ व्यावहारिक सुझाव —

प्रश्न हो सकता है कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा निरूपित आदर्श शिक्षा क्या सम्भव है, विशेषकर आज की परिस्थितियों में, जब वर्तमान विद्यालयीय शिक्षा का उद्देश्य एवं कार्यप्रणाली बिल्कुल भिन्न प्रकार के हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द कोरे आदर्शवादी सैद्धान्तिक ही नहीं थे, बल्कि अत्यन्त व्यवहार कुशल एवं कार्यक्षम भी थे, तथा अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करना अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने रामकृष्ण-संघ की स्थापना चरित्र निर्माण के मुख्य उद्देश्य से ही की थी। बेलुर मठ के संन्यासियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने एक बार कहा था; "सदा याद रखो, इस संस्था का उद्देश्य मनुष्य निर्माण है।" स्वामीजी चाहते थे कि बेलुर मठ के समान अनेक केन्द्र सारे भारत में छा जायँ जहाँ पर मनुष्य निर्माण का कार्य हो। यह आवश्यक नहीं कि यह कार्य केवल संन्यासी ही करें। आदर्शवादी उत्साही युवक भी इसी प्रकार के आश्रम या संघ आदि की स्थापना कर परस्पर सहयोग से अपने चरित्र-गठन के कार्य में प्रवृत्त हों।

जहाँ तक प्रशासनिक विद्यालयीय स्तर पर स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा-प्रणाली को कार्यरूप प्रदान करने का प्रश्न है, यह कार्य कठिन प्रतीत होते हुए भी असंभव नहीं है। सर्वप्रथम तो स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा की परिभाषा एवं उद्देश्यों को सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्र के शिक्षाविदों एवं संचालकों द्वारा स्वीकार करना होगा। उसके बाद वर्तमान राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार, तथा व्यक्ति एवं स्थान के अनुरूप उस लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों को खोज निकालना होगा। पाश्चात्य शिक्षा की आवश्यकता को भी पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। चरित्रगठन के साथ ही साथ शिक्षा को अर्थकरी भी होना चाहिए। शिक्षा के इन विभिन्न पक्षों का समावेश करने का प्रयास विभिन्न गैर-सरकारी संस्थाओं ने किया है। रामकृष्ण मिशन के शिक्षा-संस्थानों में आधुनिक शिक्षा के साथ स्वामी विवेकानन्द प्रदर्शित मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा के समन्वय का सफल प्रयास हुआ है। लेकिन शिक्षा में एकरसता के लिए यह कार्य राष्ट्रीय स्तर पर होना चाहिए। जबतक यह नहीं होता, तबतक विद्यार्थियों को व्यक्तिगत रूप से तथा समान रुचिवाले सहयोगियों के साथ संघबद्ध रूप से यह कार्य करना होगा। विद्यालयीय कार्यकाल से खाली समय में वे चरित्र-निर्माण के लिए अनेक उपाय स्वयं अपना सकते हैं। छुट्टियों में वे गाँवों अथवा गरीब बस्तियों में जाकर लोगों से मिलकर उनकी समस्याएँ समझने एवं सुलझाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

श्री रामकृष्ण का दृष्टान्त —

अंग्रेजी शासनकाल से हम पर थोपी गयी मात्र डिग्री दिलानेवाली तथा बाबू अथवा क्लर्क बनानेवाली शिक्षा आजतक भारत में चली आ रही है। वर्तमान काल में व्यवसाय सिखानेवाली अथवा धंधे दिलानेवाली (Job oriented) शिक्षा पर बल दिया जा रहा है। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण की उक्ति स्मरणीय है। जब उनके अग्रज, श्री रामकुमार ने श्रीरामकृष्ण को पढ़ाई-लिखाई के प्रति उदासीन पाया तो एक दिन उनसे कहा कि विद्याध्ययन बिना वे जीविका अर्जन नहीं कर पायेंगे। इसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा कि वे मात्र रोजी-रोटी दिलानेवाली शिक्षा नहीं चाहते। वे तो ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो जीवन के चरम लक्ष्य एवं स्वस्वरूप का ज्ञान प्रदान करे।

अर्थकरी औपचारिक विद्यालयीय शिक्षा की उपेक्षा के कारण श्रीरामकृष्ण सारे जीवन प्रायः निरक्षर ही रहे। लेकिन उन्होंने सत्य, त्याग, सेवा, करुणा, निःस्वार्थ प्रेम, भगवद्-भक्ति आदि अनेक गुणों को अपने जीवन में पूर्णरूप से आत्मसात किया था। बड़े-बड़े शास्त्र-विद् पण्डित उनमें शास्त्रोक्त सत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति देखकर दंग रह जाते थे। भारतीय वेदविद् पण्डित एवं

पाश्चात्य दर्शन एवं विज्ञान के आधुनिक विद्वान, दोनों ही उनके चरणों में बैठ एवं उनके उपदेश श्रवण कर अपने को धन्य समझते थे।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जतो दिन बाँची, ततो दिन सीखी", अर्थात् "मैं जबतक जीवित हूँ, तबतक सीखता हूँ।" वस्तुतः शिक्षा वय अथवा एक अवस्था विशेष पर ही समाप्त नहीं हो जाती। न ही वह विद्यालयय की चार-दीवारी तक ही सीमित रहती है। एक सजग विद्यार्थी के लिए समग्र विश्व एक विद्यालय है; जड़ एवं चेतन सभी वस्तुएँ शिक्षक हैं, जीवन में घट रहीं समस्त शुभाशुभ घटनाएँ उसकी पुस्तकों के पन्ने हैं तथा समग्र जीवन ही शिक्षा काल है, जहाँ वह निरंतर ज्ञानार्जन करता है।

*

यात्रा-वर्णन

श्रीमाँ क्षीरभवानी के सान्निध्य में

—स्वामी जितात्मानन्द

रामकृष्ण मठ, हैदराबाद

[प्रस्तुत निबन्ध बंगला मासिक पत्रिका 'उद्बोधन' के वैशाख, १९३२ अंक में प्रकाशित स्वामी जितात्मानन्द के 'क्षीरभवानीर मातृ सान्निध्ये' शीर्षक रोचक एवं प्रेरक यात्रा-विवरण का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार हैं—डॉ० केदार नाथ लाभ।—सं०]

भोर के प्रकाश में शान्त डल झील के किनारे-किनारे जीप चल पड़ती है—चीनार वृक्षों की कतार के बीच से। बीच-बीच में रास्ते के दोनों ओर देदीप्यमान चीनार के वृक्ष हैं, उनके चिर सनातन श्याम रंग के बड़े-बड़े पत्तों की छाया फैली है। वृक्ष नहीं, लगता है जैसे पूरे एक साम्राज्य का अधीश्वर हो। और इन वृक्षों की कतारों के पीछे आँखों के समक्ष आ पड़े थे ठीक बंगाल के धनखेत! दोनों ओर वही बर्दमान अथवा दक्षिणी चौबीसपरगना की विशाल दिगन्त व्यापी भूमि! केवल उन्मुक्त दिगन्त के परिवर्त में रहती है हिमकिरीट काश्मीर की पर्वत श्रेणी। पर्वत के शिखर-प्रदेश में संतरियों की भाँति खड़े हैं—अजस्र देवदारु के तरु। लगता है, जैसे देवभूमि और मानव-जगत् के बीच में चेकपोस्ट खड़ा है। काश्मीरवासी सभी भी मन ही मन स्वीकार करते हैं कि उनलोगों की जन्मभूमि ऋषिभूमि है। अभी भी वे जानते हैं कि मात्र दो तीन सौ वर्ष पूर्व ही पुजारी ब्राह्मणों के एक पूरे देश ने ही मुसलमानों के आक्रमण और हिन्दुओं की उपेक्षा के कारण एक नया धर्म ग्रहण कर लिया था। अभी वे काश्मीरी भाषा में बातें करते हैं, जिसकी आधारशिला ही संस्कृत है।

श्रीनगर के हृदयस्थल पर स्थित है वहाँ का सर्वोत्तम होटल—पम्पोस अर्थात् पद्मपुष्प जो काश्मीरी लोगों के नित्य व्यवहार की सब्जी है। वे लोग साग को काफी पसंद करते हैं। शाक को हाक् कहते हैं। साधारण लोगों में एक कहावत (Proverb) प्रचलित है—'किस्मत का भात, मेहनत का हाक।' श्रीनगर के हृदय स्थल पर खड़ा है जाग्रत देवीपीठ—हारि पर्वत! देवी का नाम है सारिका देवी। काश्मीरी उच्चारण में हो गया है—हारिका देवी। और जिस पर्वत पर देवी का अधिष्ठान है, उसका नाम है हारि पर्बत। श्रीनगर से मात्र पैंसठ किलोमीटर दूर पर एक और जाग्रत देवीपीठ है। नाम है—ज्वालामुखी, यद्यपि वह काफी परिचित नहीं है। किसी समय औरंगजेब ने सेना भेजकर पर्वत की चोटी पर स्थित मातृ मंदिर को ध्वस्त कर दिया था। आज सुन्दर मंदिर बन गया है।

और चारों ओर है केवल भूस्वर्ग काश्मीर का अवर्णनीय सौंदर्य !

समस्त काश्मीर ही प्रायः देवीपीठ है—शक्ति-आराधना का संसार। जीप पर बैठे-बठे बन्धु श्रीकौल के साथ यही प्रसंग चल रहा था। मातृभक्त कौल साहब इन दिनों काश्मीर की विद्युत्-परिषद् के चीफ इंजीनियर हैं। सारी राह वे केवल कहते चले थे—मातृपीठ काश्मीर के गंभीर आध्यात्मिक आकर्षण की कथा, जिसके कारण सैकड़ों प्रलोभनों के बावजूद कौल साहब काश्मीर छोड़कर जाने को राजी नहीं हैं। किसी समय ये यादवपुर के छात्र थे। इसीसे बंगला गीत, स्वामीजी और श्रीरामकृष्ण के द्वारा गाये गये माँ के गीत, उनको काफी प्रिय हैं। विशेषकर स्वामीजी के अंतिम दिनों का मातृ-संगीत—"श्यामा मा कि आमार कालो रे !"—(मेरी श्यामा माँ क्या काली है रे !) सबेरे उठते ही एक डाली में भरा हुआ काश्मीरी गुलाब, एक बोतल दूध और अगरुबत्ती उन्होंने साथ में ले ली थी क्योंकि एकाध घंटे के बीच ही श्रीनगर से ३५ किलोमिटर दूर के इस महाजाग्रत मातृपीठ पर हमलोग पहुँच जायेंगे ! क्षीर भवानी—The mother of the coloured springs—जहाँ ८५ वर्ष पूर्व एक दिन एकाकी विवेकानन्द आये थे, डल झील के तट से, एक काश्मीरी मुसलमान की नाव से। मात्र कुछ ही दिन पहले गंभीर आवेग से पूजा की थी मुसलमान नाविक की चार वर्षों की बालिका की—साक्षात् जगन्माता की मूर्त प्रतीक के रूप में। नाव जिस दिन क्षीरभवानी के मन्दिर के किनारे आयी थी—माझी भाई ने हिन्दू विवेकानन्द को कहा था—"नाव पर ही जूता रखकर जाइए। यह अत्यन्त पवित्र भूमि है।"

जीप के रुकते ही मन में लगा—एक निःशब्द देवभूमि में आया हूँ। पीछे ही है क्षीणस्रोता नदी और निर्जन पहाड़। बगल में ही छाया-निविड़ दस-बारह चीनार वृक्ष के नीचे एक काफी प्रशस्त प्राङ्गण है, काले पत्थरों से पटा हुआ। चारों ओर से साधारण लोहे की रेलिंग और घेरा है। बीच में श्वेत पत्थरों से बँधा हुआ एक कुण्ड। और कुण्ड के बीच में खूब छोटा मंदिर। ठीक-ठीक मंदिर नहीं। चार छोटे-छोटे श्वेत स्तंभों के ऊपर खड़ा है श्वेत पत्थरों का एक मंडप, जिसके नीचे अवस्थित हैं छोटे शिला-खण्ड में उत्कीर्ण देवी की मूर्ति और शिवलिंग।

काश्मीर में शिव और शक्ति का अवस्थान है। और उनके साथ रहते हैं मनुष्य। पुरुष, प्रकृति और नर—काश्मीर के शैव सिद्धान्त का यही त्रिक्—Trinity—है। अमरनाथ की राह में निवेदिता को स्वामीजी ने दिखाया था—यह देखो, चिर तुषारावृत शिव के पद-प्रान्त में चिर श्यामा उमा का अवस्थान है। चिरन्तन ध्यानमग्न पुरुष के पद-प्रान्त में चिरन्तन कर्ममयी, प्राणमयी, जीवनदायिनी प्रकृति का स्थान है। नमः शिवायै च नमः शिवाय। पहले मातृपूजा, फिर शिव की आराधना। पहले राधा, तब कृष्ण। वृन्दावन विलासिनी हम सब की राधा। पहले जानकी, फिर जानकीवल्लभ राम। पहले तपस्या-दान-सेवादि कर्म; अन्त में आत्मा का ध्यान।

अमरनाथ-दर्शन के बाद स्वामीजी क्रमशः मातृ-ध्यान में डूब गये थे। और उसी मातृध्यान के चूड़ान्त मुहूर्त में एक दिन काश्मीर के हाउस-बोट (नौका-गृह) में स्वामीजी को गंभीरतम अनुभूति हुई थी—मातृस्वरूप क्या है ? हठात् उन्होंने अनुभव किया था कि मातृशक्ति केवल स्नेह-स्तन्यदायिनी नहीं है। महामारी, दुःख, प्रलय, झंझा, मृत्यु—ये सभी उस एक ही माँ के दान हैं। कहा था विवेकानन्द ने—'सत्य तुमि मृत्युरूपा काली, सुख वनमाली तोमार मायार छाया।' (सचमुच तुम हो मृत्युरूपा काली, सुख वनमाली तुम्हारी माया की छाया है।) उस संध्या को उन्होंने इसी मृत्युरूपा माता के झंझा-विक्षुब्ध स्नेह-स्पर्श का अनुभव किया था। भाव की गहनता और अनुभूति की अतिशयता में अपने समग्र शरीर से बार-बार काँप उठे थे विवेकानन्द। और इस अनुभूति की तरंग पर खड़े होकर ही किसी

तरह कागज पर रख दिये थे कुछ शब्द। चेतना के गहनतम स्तर से ही उस संध्या में उच्चारित होकर शब्दों का झंझावाती रूप ग्रहण किया था विवेकानन्द के इस अविस्मरणीय गीत—Kali The Mother (काली माता)—ने। अंतिम कई पंक्तियों को प्रायः स्वगतोक्ति की भाँति बार-बार दुहराया था विवेकानन्द ने अपनी पाश्चात्य शिष्या के सम्मुख खड़े होकर—

साहसे जे दुःख दैन्य चाय, मृत्युरे जे बाँधे बाहु पाशे,
काल-नृत्य करे उपभोग, मातृरूपा तारि काछे आसे।

(साहस से भर जो चाहे दुःख दैन्य,
भर ले महामृत्यु को जो भुज-पाश;
काल नृत्य का करे अभय उपभोग
माता आती है उसके ही पास।)

अनुभूति की तीव्रता कम जाने पर स्वामीजी कई दिनों तक प्रायः नीरव और निःसंग हो गये थे। लगता है, मातृस्वरूप के ध्यान में भाषा गतिहीन हो गयी थी। फिर हठात् उन्होंने सब को कहा—मैं अज्ञातवास को जाता हूँ, कोई मेरा पीछा नहीं करो।

झेलम के वक्ष पर उस दिन एक नाव अकेली चली थी—इस युग के महासाधक को लेकर। नाव रुकी थी क्षीरभवानी की इसी पवित्र देवभूमि पर।

क्षीरभवानी के इस अज्ञातवास में विवेकानन्द ने नियमित व्रत-उपवास किये थे, नित्य पूजा की थी एक ब्राह्मण पुरोहित की शिशु-कन्या की—देवी के रूप में और अंत में एक मन दूध देकर माँ की पूजा की थी इस क्षीरकुण्ड में, और रात की निःस्तब्धता में इस मंदिर की प्रदक्षिणा की थी—माँ के भाव में विभोर होकर।

श्री कौल कहते जा रहे थे—आज भी जैसे मैं देखता हूँ, स्वामीजी शिशु की भाँति क्षीरभवानी के मंदिर की प्रदक्षिणा करते रहते हैं—रात के अंधकार में। इसी से मैं स्वयं भी कई बार सारी रात जागकर इस मंदिर की प्रदक्षिणा करता हूँ। क्षीरभवानी के मंदिर की यह प्राचीन परम्परा आज भी समान रूप से श्रद्धा पा रही है। एकनिष्ठ भक्तगण इस पवित्र भूमि में माता के नाम में विभोर होकर जीवन्त माँ के सान्निध्य में रात्रि-यापन करते हैं। आज भी क्षीरभवानी के प्रवेशद्वार पर खड़े होने पर अन्तःस्थल में सुना जाता है माँ का कण्ठस्वर—

"आओ, मैं यहाँ अनन्तकाल से रहती हूँ। चिरन्तन जगज्जननी को भूलकर नहीं जाओ। माँ ही सत्य है, संसार उसी की क्रीड़ा है।"

क्षीरभवानी के दिनों तक गंभीरतम मुहूर्त में एक दिन विवेकानन्द ने महामाया के कण्ठ की वाणी सुनी थी—प्रत्यक्ष देववाणी। उस दिन के क्षीरभवानी के मंदिर में था मुसलमानों के आक्रमण का चिह्न। इस ध्वंसावशेष के निकट खड़े होकर मातृभक्त विवेकानन्द के अन्तःकरण में देशप्रेम की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। पाश्चात्य विजयी विवेकानन्द के रक्त में उस समय था प्राचीन वेदान्ती सभ्यता के लिए गंभीरतम गौरव बोध और उस गौरवबोध के पुनरुद्धार का स्वप्न लेकर ही परिव्राजक विवेकानन्द ने कौड़ीहीन अज्ञातनामा संन्यासी होकर भी अमेरिका में 'साइक्लोनिक हिन्दू' (तूफानी हिन्दू) और 'वारियर प्रॉफेट (योद्धा पैगम्बर) का नाम पाया था। क्षीरभवानी के ध्वंस-स्तूप के निकट खड़े विवेकानन्द के मन में विध्वस्त आर्यज्ञान और आर्य सभ्यता के लिए गंभीर वेदना जग उठी थी। और उसी क्षोभ, उसी वेदना, उसी हृत गौरवबोध की तीव्रता से विवेकानन्द के हृदय में उसी मुहूर्त में एक दुर्जय योद्धा के मातृगत प्राण आविर्भूत हुए थे। विवेकानन्द सोच रहे थे—"माँ, यदि मैं उन दिनों जीवित होता, तो जीवन देकर भी विधर्मियों को तुम्हारा मंदिर कलुषित नहीं करने देता।"

हठात् उन्होंने सुनी प्रत्यक्ष वाणी जगज्जननी का कंठ स्वर—"मेरे मंदिर को यदि विधर्मियों ने कलुषित कर ही दिया तो इसके लिए तुम्हें क्या करना है? तुम मेरी रक्षा कर रहे हो या मैं तुम्हारी रक्षा कर रही हूँ?" पुत्र के उद्यत मातृगर्व और आत्मशक्ति के काफी

ऊपर उसी क्षण उत्तुंग महिमामंडित जगज्जननी खड़ी थीं---मानो अपनी संतान को उन्होंने कहा था—"मैं ही आदि शक्ति हूँ, सृष्टि स्थिति पालनकारिणी हूँ, त्रिभुवन की मैं ही सृष्टि करती हूँ और फिर उसे मैं ही निगल जाती हूँ। विश्व के वृक्ष में, मेरी इच्छा के बिना, एक पत्ता भी नहीं हिलता।" कई दिनों तक विवेकानन्द ने बार-बार सुना था माँ का एक ही कण्ठस्वर, उस सर्वजयी इच्छामयी, लीलामयी, जगज्जननी की विश्व सृष्टि ध्वंस की, जगत् को तोड़ने-गाड़ने के खेल की वाणी—"बच्चा, यदि मैं इच्छा करूँ तो इस क्षण ही अगणित मठ-मंदिर तैयार कर ले सकती हूँ, इसी मुहूर्त में और इसी स्थान पर सतमंजिला स्वर्ण मंदिर गढ़कर खड़ी कर सकती हूँ।" इसी मातृकण्ठ का स्वर सुना था पाँच हजार वर्ष पहले ऋग्वेद के ऋषि ने—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।

संसार के अज्ञान के विनाश के लिए शिव जब अपने धनुष को बाण से युक्त करते हैं तब उनके पीछे मेरी ही शक्ति रहती है। मात्र पन्द्रह वर्ष पहले दुःख-दारिद्र्य और अनाहार की एक रात काली-अविश्वासी नरेन को लेकर मातृस्वरूप श्रीरामकृष्ण ने एक निष्ठुर खेल खेला था। माँ को नहीं माननेवाले एक दुर्जय शिवस्वरूप को इस युग के ईश्वर ने माँ के ही पदतल पर रख दिया था। कई वर्ष पहले एक उसी रात के ब्राह्ममुहूर्त में दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में श्रीरामकृष्ण आनन्द की अतिशयता में जन-जन को कहते फिरते थे—नरेन्द्र काली को मानता है, सारी रात गाता रहा है, "माँ, त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा परात्परा.....।"

क्षीरभवानी की गंभीर निःस्तब्धता में और एकबार सर्वजयी विवेकानन्द के जीवन में मातृशक्ति का पुनरभ्युत्थान हुआ। विश्वजयी विवेकानन्द फिर एकबार परिणत हुए शरणागत विवेकानन्द के रूप में—इसबार सदा के लिए उनका कार्य समाप्त कर माँ घर के बच्चे को घर में ले आयी हैं। लौटा लायी हैं क्षीरभवानी के मातृपीठ में इस चरम सत्य को समझा देने के लिए ही कि—"मैं ही सब कुछ करती हूँ, तुम निमित्त मात्र हो। महामाया की शक्ति के द्वारा ही तुम्हारे माध्यम से जगत् आलोड़ित हुआ है। इस बार इस सत्य का अनुभव करो और सदा की भाँति मेरी ही शरणागत होओ।"

वेदान्तकेशरी विवेकानन्द परिणत हुए थे मातृ-क्रीड़ाश्रयी, सम्पूर्ण अहं और इच्छाओं से रहित एकान्त मातृ-निर्भर शिशु विवेकानन्द के रूप में—इसी जाग्रत मातृभूमि क्षीरभवानी में। इस दैववाणी के क्षणभर बाद से ही बच्चे के सारे भार माँ ने ले लिये थे। सात दिनों के बाद जब वे लौटे थे, निवेदिता ने एक रूपान्तरित विवेकानन्द को देखा था। गंभीर प्रशान्ति और अंतर्मुखता के राज्य में विवेकानन्द प्रवेश कर गये थे। पहले ही शान्त कण्ठ से उन्होंने कहा था—अभी माँ ही सब कुछ हैं। माँ की इच्छा से ही जो होना होगा सो होगा। जिस हाउस-बोट (नौकागृह) में सम्पूर्ण दुनिया का इतिहास, भारत का अतीत और भविष्य देखा था विवेकानन्द ने, जिस झेलम के तट पर विवेकानन्द ने मात्र कुछ दिन पहले ही वेद-विद्यालय तथा नारी मठ का स्वप्न देखा था, आज उसी हाउस-बोट में विवेकानन्द मातृध्यान में मौन हो गये थे। समस्त सपनों की परिसमाप्ति हो गयी थी। सम्पूर्ण शरणागति हो गयी थी। माँ ही सबकुछ हैं—इसे उन्होंने जान लिया था। माँ-माँ-माँ—विवेकानन्द के कण्ठ से, स्वप्न से जगे बच्चे की भाँति, उच्चारित हुआ था। कुछ ही दिनों में हठात् विवेकानन्द ने अपने काश्मीर वास के समापन की सूचना दी। सब को छोड़कर वे रवाना हुए गंगातट पर अवस्थित बेलुड़ मठ के लिए। मातृशक्ति के इस शक्तिमय पुनरुत्थान ने विवेकानन्द के जीवन में एक गंभीरतर अंतर्दृष्टि उपस्थित कर दी थी। जिन प्रियतम गुरु को उन्होंने एक दिन सम्बोधित किया था—"my hero, my god in life" (मेरे पुरुषोत्तम, मेरे जीवन-देवता)—उन्हें ही फिर नये रूप में पुकारा—"सशक्ति के नमि तव पदे"; शिव-शक्ति के समष्टि रूप में सम्बोधित

किया—"ॐ ह्रीं ऋतं।" निवेदिता को उन्होंने कहा था, भविष्य में एक दिन श्रीरामकृष्ण काली के अवतार के रूप में ही पूजित होंगे। जीवन के अंतिम दिनों में मातृसंतान विवेकानन्द ने इसी से गाया था—Swan-Song—"श्यामा मा कि आमार कालो रे...।"

पूजा समाप्त कर जब मातृपीठ से बाहर आ रहा था, कोल साहब बार-बार पीछे मुड़कर देख रहे थे। मैं भी। फिर कब माँ का साक्षात्कार होगा, कौन जाने! हृदय भर गया था। मानों माँ बार-बार अभय-वाणी सुना रही थीं। विशाल चीनार की छाया में मानों माँ उस छोटी मुसलमान बालिका की भाँति खेलने निकली थीं—तारे रवि-शशि तुम्हारे खिलौने हैं। आदिशक्ति की विराट् सत्ता की इतनी शान्त, इतनी गंभीर, शक्तिमयी नीरव उपस्थिति! अभी भी मन में होता है कि क्षीरभवानी की गंभीर शान्त नीरवता में बैठी है—शिशु विवेकानन्द की माँ, अपनी अनागत अनगिनत सन्तानों की अपेक्षा सँजोए हुए।

★

स्वामी विवेकानन्द और प्रोफेसर मैक्समूलर

—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य

रामकृष्ण मठ, नागपुर।

११ सितम्बर, १८९३ ई० को अमेरिका के शिकागो नगर में विश्व धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेने के निमित्त पृथ्वी के कोने-कोने से प्रत्येक धर्म के सर्वश्रेष्ठ वक्ता वहाँ पधारे हुए थे। परन्तु सनातन हिन्दूधर्म के युवा प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही उनमें सर्वाधिक सफल हुए थे। सभा में प्रदत्त उनके प्रथम संक्षिप्त व्याख्यान ने ही सम्पूर्ण विश्व में उनकी कीर्ति वैजयंती लहरा दी। संवादपत्रों में स्वामीजी के चित्र देखे तथा उनके व्याख्यानों के विवरण पढ़कर अमेरिका की सारी जनता उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखने व सुनने को उत्सुक हो उठी। विश्व के सभी धर्मों, राष्ट्रों, जातियों, समाजों व व्यक्तियों के बीच फैली भेद-भाव की खाई को पाटने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में स्वामीजी वेदान्त का प्रचार करने लगे। भारतीय विचारों के पश्चिम में प्रचार-प्रसार का अच्छा अवसर देखकर आगामी ३-४ वर्षों तक वे वहीं ठहर गये तथा अमेरिका के सभी प्रमुख नगरों में व्याख्यान देते हुए भ्रमण करते रहे। बीच-बीच में वे यूरोप और विशेषकर इंग्लैण्ड जाकर भी अपने वेदान्त-प्रचार का अभियान चलाया करते थे। स्वामीजी ने इसी सिलसिले में कई बार लन्दन में पदार्पण किया था।

प्रोफेसर मैक्समूलर से मिलने की घटना स्वामीजी के द्वितीय लन्दन प्रवास के समय हुई थी। प्रोफेसर उन दिनों ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय विषयों के परामर्शदाता थे। भारतवर्ष के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी। उन्होंने आंग्लभाषा में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का अनुवाद कर प्रकाशित कराया था, जिसके फलस्वरूप वे विश्व भर में विशेष सम्मानित हुए थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने ५० खण्डों में प्रकाशित Sacred Books of the East (प्राची के पवित्र ग्रन्थ) के कई खण्डों का अनुवाद तथा पूरी ग्रन्थमाला का सम्पादन किया था। वे समकालीन भारत में चल रहे आध्यात्मिक तथा समाज-सुधार-आन्दोलनों में भी गहरी रुचि लेते थे। ब्रह्मसमाज के प्रख्यात नेता केशवचन्द्र सेन उनके मित्रों में से एक थे। केशव बाबू की विचारधारा में आये हुए अचानक परिवर्तन के कारण ढूँढ़ते हुए उन्हें

श्रीरामकृष्ण परमंहस के महत्व का भान हुआ। परमहंसदेव के प्रति वे इतने आकृष्ट हो गये थे कि उनके सम्बन्ध में उन्हें जो भी सामग्री मिलती, उसका वे अत्यन्त उत्सुकता व श्रद्धापूर्वक पारायण किया करते थे।

जिस वेदान्त का सम्पूर्ण जगत् में प्रचार करना स्वामी विवेकानन्द का जीवनव्रत था, प्रो० मैक्समूलर उसी वेदान्त के अध्ययन में दशकों से डूबे हुए थे। उन्होंने भारतीय दर्शन पर अनेक व्याख्यान दिये थे तथा कई ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था। अतः स्वामी विवेकानन्द की ऐसे ख्यातिलब्ध विद्वान् में रुचि स्वाभाविक ही थी। विद्वान् प्राध्यापक की वेदान्त व्याख्या परम्परागत न थी अतः स्वामीजी उनके सारे विचारों से सहमत न थे। मार्च, १८९४ ई० में प्रोफेसर मैक्समूलर ने रायल इंस्टीट्यूशन में 'वेदान्त-दर्शन' पर तीन व्याख्यान दिये थे, जो बाद में एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। स्वामीजी उसे पढ़कर प्रोफेसर की विचारधारा में वेदान्त-दर्शन के पक्ष में सकारात्मक परिवर्तन देखकर विस्मित रह गये थे। प्रोफेसर से मिलने के एक वर्ष पूर्व ही ५ मई, १८९५ ई० को वे हेल बहनों के नाम अपने पत्र में लिखते हैं—

"प्रिय बच्चियों, वही हुआ जिसकी मुझे आशा थी। यद्यपि प्रो० मैक्समूलर ने हिन्दूधर्म सम्बन्धी अपनी सभी रचनाओं के अन्त में अनादर सूचक मन्तव्य प्रकट किये हैं, पर मुझे सदा से ही यह उम्मीद रही है कि आगे चलकर उन्हें अवश्य ही पूर्ण सत्य के दर्शन होंगे। जितना शीघ्र हो सके 'वेदान्त-दर्शन' नाम की उनकी नवीनतम पुस्तक प्राप्त कर लो; उसमें तुम देखोगी कि उन्होंने पुनर्जन्मवाद आदि सबकुछ हजम कर लिया है।...उसमें कई स्थलों पर तुम्हें मेरे शिकागो के निबन्ध की भी झलक मिलेगी। मुझे प्रसन्नता है कि उन वृद्ध पुरुष को सत्य के दर्शन हो गये हैं, क्योंकि विज्ञान व शोध के आधुनिक युग में धर्म की उपलब्धि का एकमेव मार्ग यही है।" पुनः वे २६ जून को लिखते हैं—"आत्मा के अमरत्व पर प्रो० मैक्समूलर के निबन्धों का, जिन्हें मैंने मदर-चर्च के पास भेजा था, तुम आनन्द ले रही होगी। उन वृद्ध आदमी ने वेदान्त की प्रायः सभी प्रमुख बातों पर विचार किया है और साहसपूर्वक सामने आया है।" इस प्रकार हमने देखा कि स्वामीजी के वेदान्त तथा हिन्दूधर्म के प्रचार के बाद प्रो० मैक्समूलर की विचारधारा में काफी परिवर्तन आया और स्वामीजी ने इसे लक्ष्य कर प्रसन्नता व्यक्त की। इसके कुछ ही महीनों बाद स्वामीजी की इच्छा तथा निर्देशानुसार उनके मद्रासी शिष्यों तथा मित्रों ने मिलकर नव-वेदान्त के प्रचारार्थ एक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। 'ब्रह्मवादिन्' का प्रवेशांक १४ सितम्बर १९८५ ई० को निकला। प्रोफेसर मैक्समूलर इसे अत्यन्त मनोयोग के साथ पढ़ा करते थे तथा यदा-कदा अपने सुझाव भी भेजा करते थे।

इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी के मन में भी काफी दिनों से प्रोफेसर से मिलने की इच्छा थी। अतः लन्दन में आने पर जब उन्हें प्रोफेसर का आमन्त्रण मिला तो उन्होंने उसे अत्यन्त आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। २८ मई, १८९६ ई० को वे अपने एक अंग्रेज शिष्य श्री ई० टी० स्टर्डी के साथ उनसे मिलने गये। सुन्दर उद्यान के बीच अवस्थित एक मनोरम-गृह में वृद्ध प्राध्यापक ने अपनी शीलवती पत्नी के साथ उनका स्वागत किया। स्वामीजी को ऐसा लगा मानो महर्षि वशिष्ठ व अरुन्धती ही उनसे मिलने को खड़े हों।

सौहार्द्रपूर्ण स्वागत के पश्चात् चाय-पान और तदुपरान्त वार्तालाप का दौर चला। स्वामीजी ने ऋग्वेद पर किये गये उनके कार्यों की सराहना की तथा आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि वे इतना कठिन व वृहत् कार्य कैसे पूरा कर सके? प्रोफेसर ने उन्हें बताया कि सायण भाष्य का अनुवाद करो तभी उसके एक ठसी शब्द या वाक्य का यथार्थ ढंग से पाठ करनेका-क की अर्थ ढूँढ़ निकालने के लिये कभी दिन-रात किठि

दिन तो कभी महीनों निकल जाया करते थे, फिर भी उन्होंने साहस न छोड़ा (इस अनुवाद में उनके जीवन के प्राय: ४५ वर्ष व्यय हुए थे)।

भारतीय स्थापत्य कला पर भी उनके बीच बातचीत हुई। प्रोफेसर का मत था कि बौद्ध स्थापत्य तथा मूर्ति-कला का यूनानी कला के साथ थोड़ा साम्य दीख पड़ता है, और उन दिनों यूनान का भारत के साथ सम्पर्क था; अत: इस आधार पर कहा जा सकता है कि यह भारतीय कला पर यूनानी प्रभाव का द्योतक है। स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि यदि यूनानियों की उपस्थिति मात्र को ही भारतीय स्थापत्य कला पर उनके प्रभाव का एकमात्र प्रमाण मान लिया जाय, तो फिर उसी युक्ति का उल्टा प्रयोग करके यह कहा जा सकता है कि यूनानी शिल्पकला भारत की ऋणी है। बौद्धयुग के भारतीय तथा यूनानी मूर्तिकला में कोई सादृश्य नहीं दीख पड़ता। यूनानी लोग बाह्य वस्तुओं के रूपांकन में दक्ष हैं, जबकि भारतीय मूर्तिकला अन्त:-प्रकृति को व्यक्त करने की इच्छुक है—यहाँ तक कि वह इसके लिए वास्तविकता का भी त्याग करने को प्रस्तुत है।'''वास्तविकता तो यह है कि भारतीय स्थापत्य शिल्प यूनान की तुलना में काफी उन्नत है, क्योंकि भारतीय कला सर्वदा ही एक भाव को व्यक्त करने का प्रयास करती है, जबकि यूनानी कला में ऐसा नहीं है।

'श्रीरामकृष्ण परमहंस' उनके बीच चर्चा का एक प्रमुख विषय रहे। प्रोफेसर ने स्वामीजी को बताया कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन व उपदेशों पर एक लेख लिखा है, जो अंग्रेजी भाषा की प्रमुख मासिक पत्रिका 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' में A Real Mahatman (एक यथार्थ महात्मा) शीर्षक के साथ प्रकाशित होनेवाली है। यह जानकर कि प्रोफेसर ने युगावतार श्रीरामकृष्ण का वास्तविक महत्त्व समझ लिया है, स्वामीजी ने कहा—"प्रोफेसर! आजकल सहस्रों लोग श्रीरामकृष्ण की पूजा कर रहे हैं।" आनन्दविभोर प्रोफेसर का उत्तर था—"यदि लोग ऐसे व्यक्ति की पूजा नहीं करेंगे, तो किसकी करेंगे?" फिर पूछा—"विश्व को उनसे परिचित कराने के लिये आपलोग क्या कर रहे हैं?" स्वामीजी से उनकी वेदान्त-प्रचार की योजनाएँ सुनने के बाद उन्होंने उनमें अपना हार्दिक सहयोग देने का वचन दिया। उन्होंने यह भी कहा कि यदि उन्हें श्रीरामकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित यथेष्ट सामग्री उपलब्ध करायी गयी तो वे एक ग्रन्थ की रचना करेंगे। स्वामीजी ने कहा कि वे उपयुक्त सामग्री का संकलन कर उन्हें भेज देंगे।

जर्मन प्राध्यापक के मुख से उनके भारत प्रेम की कथा सुनकर देशभक्त संन्यासी मुग्ध होकर सोचने लगे—"अहा! मेरा अनुराग यदि उनके शतांश भी होता, तो मैं अपने को धन्य मानता।' स्वामीजी ने पूछा—'आप भारत कब आ रहे हैं? भारतवासियों के पूर्वजों की चिन्तनराशि को आपने यथार्थ रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट किया है, अत: वहाँ का प्रत्येक हृदय आपका स्वागत करेगा।" भारतभूमि में जाने की कल्पनामात्र से ही ऋषितुल्य वृद्ध प्राध्यापक का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और आँखें नम हो गयीं। भाव का आवेग सम्भालते हुए उन्होंने रुद्धकण्ठ से कहा—"तब तो मैं वापस न आ सकूंगा, आपलोगों को वहीं मेरा दाह-संस्कार कर देना होगा।"

अत्यन्त प्रीति के साथ उन्होंने स्वामीजी तथा श्रीयुत् स्टर्डी को भोजन कराया। तदुपरान्त वे उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कुछ कॉलेज तथा बोडलियन पुस्तकालय दिखाने को ले गये। फिर आँधी-पानी के बावजूद वे अपने अतिथि-मित्रों को विदा करने रेलवे स्टेशन तक आये। स्वामीजी ने संकोचपूर्वक कहा—"आप हमारे आराम तथा सुख-सुविधा के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"श्रीरामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य के साथ हमारी प्रतिदिन तो भेंट नहीं होती।" प्रोफेसर मैक्समूलर के साथ अपने इस साक्षात्कार का विवरण स्वामीजी ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में प्रकाशित कराया था।

* * *

स्वामीजी के एक अन्य गुरुभाई स्वामी सारदानन्द उन दिनों उनकी सहायता करने को लन्दन आये हुए थे। प्राध्यापक से मिलकर लौटने के पश्चात् स्वामीजी ने प्रस्तावित ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाने का भार उन्हीं को सौंपा। उन्हीं के शब्दों में—"मैंने काफी परिश्रम-पूर्वक ठाकुर के जीवन की सारी घटनाओं तथा उनके उपदेशों का संग्रह किया तथा पाण्डुलिपि स्वामीजी को दिखाई। मैंने सोचा था कि वे उसमें काफी सम्पादन व संशोधन करेंगे परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया, सिर्फ अतिशयोक्ति के भय से यत्र-तत्र एकाध शब्द बदल दिये तथा पाण्डुलिपि उनके पास भेज दी।" फिर २४ जून को स्वामीजी ने अतिरिक्त सामग्री एकत्र करने का अनुरोध करते हुए स्वामी रामकृष्णानन्द को भी एक पत्र में लिखा—"श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में मैक्समूलर का लेख आगामी माह प्रकाशित होगा। वे उनकी एक जीवनी लिखने को राजी हुए हैं, श्रीरामकृष्णदेव की समस्त वाणियों को चाहते हैं। उनकी सारी उक्तियों को क्रमबद्ध रूप से लिख भेजो—अर्थात् कर्म सम्बन्धी उक्तियों को पृथक् रूप से तथा वैराग्य, ज्ञान, भक्ति आदि का संकलन पृथक्-पृथक् हो। तुम्हें इस कार्य को अभी प्रारम्भ करना होगा। जो बातें अंग्रेजी में अप्रचलित हों, सिर्फ उन्हीं को लिखने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिपूर्वक उन स्थलों पर यथासम्भव अन्य वाक्यों का प्रयोग करना। 'कामिनी-कांचन' के स्थान पर 'काम कांचन' (lust and gold) लिखना—अर्थात् उनके उपदेशों से सार्वजनिक भाव व्यक्त होने चाहिए। तुम इस कार्य को पूरा कर, उनकी सारी उक्तियों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा वर्गीकरण कर 'प्रोफेसर मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, इंग्लैंड—इस पते पर भेज देना।"

मई और जून का महीना लन्दन में बिताकर जुलाई के अन्त में स्वामीजी स्विट्जरलैण्ड का भ्रमण करने को गये। प्रो० मैक्समूलर का २ अगस्त का पत्र उन्हें वहीं प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार है—

"प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि मेरा लेख आखिरकार नाइन्टीन्थ सेन्चुरी के अगस्त अंक में प्रकाशित हो गया है। मैंने जो कुछ लिखा है, उससे क्या आप पूर्णतया सहमत हैं?—मुझे यह जानकर खुशी होगी। मुझे आशा है कि इसका इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में भी अच्छा प्रभाव होगा, क्योंकि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी काफी लोगों द्वारा पढ़ी जाती है।

मैं आपकी तथा मि० स्टर्डी की योजनाओं से परिचित होना चाहता हूँ। आपने उन महिला का नाम सुना होगा जो इंग्लैण्ड में वेदान्त की एक पत्रिका के लिये १००० पौण्ड देने को राजी हैं। मैंने उनको लिखा कि मैं आनन्दपूर्वक सहयोग करूँगा, परन्तु एक नयी पत्रिका को चलाने तथा प्रभावी बनाने के लिए और भी धन की आवश्यकता होगी। दूसरी पत्रिका वाले जो पारिश्रमिक देते हैं, उतना पारिश्रमिक दिये बिना आपकी पसन्द के लेखक न मिलेंगे, और इस पर भी वे आपके लिये लिखकर एहसान ही करेंगे, क्योंकि पुरानी पत्रिकाओं में उनके लेख अधिक लोगों द्वारा पढ़े जाते हैं।

ऐसा लगता है मानो कल ही ऑक्सफोर्ड में मेरी आपके साथ मुलाकात हुई और आज ही विवरण इंग्लैण्ड से मद्रास जाकर, वहाँ छपकर, इंग्लैण्ड वापस आकर मेरे सामने हो। सौ वर्ष पूर्व भला कौन इसकी कल्पना कर सकता था! आपने उसमें मेरे प्रति जो सहृदयतापूर्ण बातें लिखी हैं, उनके लिए धन्यवाद। कामना होती है कि मेरी उम्र थोड़ी कम होती तथा मैं आपकी और भी सहायता कर पाता।...

मेरी राय में श्रीरामकृष्ण के बारे में और भी विस्तार से लिखना उपयोगी होगा, परन्तु यदि यथेष्ट सामग्री प्राप्त हो। फिर हमलोगों की तथा भारत-वासियों की जिन चीजों में रुचि है, अंग्रेज लोगों की उनमें न होगी। अतः श्रीरामकृष्ण की उक्तियों में भी

थोड़ा संशोधन करना होगा ताकि यूरोपीय भावनाओं को आघात न लगे।...''

आपका विश्वस्त,
फ्रॅ० मैक्समूलर

स्वामीजी का उत्तर मिलने के पश्चात् प्रोफेसर ने अपने अगले पत्र में उन्हें लिखा था कि यदि वे ऑक्सफोर्ड में भाषण करने जायँ तो वे अपनी शक्तिभर सारा प्रबन्ध करेंगे। अगस्त के अन्तिम सप्ताह में स्वामीजी आलासिंगा को लिखते हैं—''मैक्समूलर के साथ गाढ़ी मित्रता हो रही है। मैं शीघ्र ही ऑक्सफोर्ड में दो व्याख्यान देनेवाला हूँ।'' परन्तु वे व्याख्यान किसी कारणवश टलते गये।

अक्तूबर के प्रारम्भ में स्वामीजी की सहायता करने को उनके एक अन्य गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द भी लन्दन आ पहुँचे। स्वामीजी उन्हें प्रोफेसर मैक्समूलर के साथ परिचय कराने को ले गये। स्वामी अभेदानन्द लिखते हैं—''मैंने उनके साथ संस्कृत में वार्तालाप किया, परन्तु वे न तो संस्कृत बोल ही पाते थे और न बोली हुई संस्कृत समझ पाते थे। उन्होंने बताया कि उनके कान व जिह्वा संस्कृत ध्वनियों से अपरिचित हैं, अतः मैंने उनके साथ आंग्लभाषा में ही विचारों का आदान-प्रदान किया। श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों के बारे में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने कहा था, 'श्रीरामकृष्ण एक मौलिक विचारक थे, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी विश्व-विद्यालय की परिधि में न हुई थी, और यही कारण है कि उनके उपदेशों में नवीनता व मौलिकता है।'' सम्भवतः इस बार पुनः प्रोफेसर ने स्वामीजी से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने का अनुरोध किया था और स्वामीजी ने उनसे उक्त सभा की अध्यक्षता करने का अनुरोध किया, परन्तु मि० स्टर्डी के नाम प्रोफेसर के २८ नवम्बर के पत्र से ऐसा लगता है कि वे व्याख्यान तब तक भी न हो सके थे। उनका वह पत्र इस प्रकार था --

''प्रिय मि० स्टर्डी,

क्या विवेकानन्द अब भी इंग्लैण्ड में हैं? यदि हों तो क्या आप उन्हें बता देंगे कि मुझे स्वामी रामकृष्णानन्द, आलमबाजार से श्रीरामकृष्ण की उक्तियों का एक संकलन प्राप्त हुआ है। क्या ये वे ही हैं जो ब्रह्मवादिन् में प्रकाशित हो चुकी हैं? मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या इन सूत्र रूप उक्तियों के अतिरिक्त और भी बड़ी उक्तियाँ हैं?

क्या विवेकानन्द ने ऑक्सफोर्ड में व्याख्यान देने का विचार त्याग दिया है? मुझे खेद है कि मैं मैनचेस्टर कॉलेज में अध्यक्षता करने को सहमत नहीं हुआ। ऑक्सफोर्ड के अपने पिछले ५० वर्षों के जीवन में मैंने कभी ऐसी अध्यक्षता नहीं की और दूसरों को नाराज किये बिना ऐसा सम्भव भी नहीं है। प्रत्येक कॉलेज का प्रधानाचार्य ही उस कॉलेज की सभा की अध्यक्षता करने लिये उपयुक्त व्यक्ति है।

आपका ही
फ्रॅ० मैक्समूलर

दिसम्बर में ही प्रोफेसर ने मि० स्टर्डी को कुछ और भी पत्र लिखे थे, जिनमें से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—''यदि विवेकानन्द अब भी आपके साथ हों, तो उन्हें मेरा धन्यवाद तथा शुभकामनाएँ कहें। अपने पौराणिक लेखन से थोड़ी फुरसत मिलने पर मुझे आशा है कि मैं वेदान्त में भी कुछ और कर सकूँगा। वे भारत में कार्य करें और हमलोग यूरोप में करेंगे। ठीक-ठीक व्याख्या करने पर वेदान्त बहुतों के लिए मिलन-भूमि हो सकेगा। जगत् को शिक्षा की आवश्यकता है, अन्यथा गलतफहमी और अन्धविश्वास के अतिरिक्त हमारे हाथ और कुछ भी न आयेगा। मैंने श्रीरामकृष्ण की उक्तियों को सजाने का प्रयास किया है। आश्चर्य है कि किसने इन वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर दिया है।...मुझे विश्वास है कि वे स्वयं ऐसा न कर पाते। मेरे ख्याल में विवेकानन्द ने स्वयं

ही मुझसे ऐसा कहा था। ·····संस्कृत अनुवाद काफी अच्छे हैं।" यहाँ यह बता देना उचित होगा कि स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने स्वयं ही ठाकुर के कुछ उपदेशों का संस्कृत में पद्यानुवाद किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रोफेसर अत्यन्त मनोयोगपूर्वक श्रीरामकृष्ण की जीवनी के उपादान संग्रह तथा लेखन में व्यस्त थे।

१८९७ ई० के अन्त में ब्रह्मवादिन् के दो वर्ष पूरे हो जाने पर उसमें प्रकाशित लेखों का एक संकलन प्रकाशित करने की योजना बनी। प्रोफेसर से अनुरोध किये जाने पर उन्होंने प्रस्तावित ग्रन्थ के लिए एक प्रस्तावना भी लिख भेजी थी। दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गया। उक्त प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था कि 'ब्रह्मवादिन्' में प्रकाशित अधिकांश लेख, जो कि प्राचीन एवं नव वेदान्त के विविध आयामों का प्रतिपादन करते हैं, उन्होंने पढ़े हैं; ये लेख वेदान्त के असाधारण शक्तिदायी विचारों को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करते हैं" आदि।

स्वामी विवेकानन्द एवं उनके गुरुभाइयों के द्वारा तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं से संकलित सामग्री का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो १८ अक्तूबर, १८९८ ई० में प्रकाशित हुई। कहना न होगा कि इस ग्रन्थ ने विश्व के अनेक आंग्लभाषियों का ध्यान नव-वेदान्त आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। स्वामीजी ने इसकी एक लम्बी समीक्षा लिखी, जो 'उद्बोधन' में प्रकाशित होकर बाद में "चिन्तनीय बातें' नामक पुस्तक में संकलित हुई। यह लेखन प्रोफेसर के जीवन का सम्भवतः अन्तिम महत्वपूर्ण कार्य था, क्योंकि इसके दो वर्ष बाद ही उन्होंने इहलोक से विदा ली।

स्वामी विवेकानन्द का मत था कि स्वयं सायणाचार्य ने ही 'ऋग्वेद' पर किये हुए अपने भाष्य का उद्धार करने के निमित्त यूरोप में मैक्समूलर के रूप में पुनः जन्म लिया था। उनकी दृष्टि में वे वेदन्तियों में एक श्रेष्ठ वेदान्ती थे। एक ओर जहाँ उन्होंने अपने जीवन के उषाकाल से ही हिन्दुओं के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ को अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग अर्पित किया, वहीं अपने जीवन के सांध्यकाल में उन्होंने नवयुग की वेदमूर्ति श्रीरामकृष्ण का विश्व से परिचय कराया। अपने 'ब्रह्मवादिन्' के संस्मरण में स्वामीजी ने लिखा था—"जब मैं उनके उस महान् कार्य के बारे में सोचता हूँ, जिसे उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ अपने यौवनावस्था में हाथों में लेकर वृद्धावस्था में उसकी सफलतापूर्वक परिसमाप्ति की, तो मैं दंग रह जाता हूँ।"···इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि हमारे पूर्वजों के साहित्य की रक्षा, उसका विस्तार एवं उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हम सबमें जो कोई जितना करने की आशा कर सकता है, इस अकेले व्यक्ति ने उससे सहस्रगुना अधिक किया है और यह कार्य उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्ण हृदय के साथ सम्पन्न किया है।"

*

कर्मयोग पर विचार (२)

शितिकंठ बोधिसत्व
छपरा (बिहार)

[प्रस्तुत निबंध की पहली किस्त मार्च, १९८५ के अंक में छप चुकी है। यह समापन किस्त है।—सं०]

यद्यपि मनुष्य प्राकृतिक न्याय से किसी विशेष परिस्थिति में रहता है, किन्तु उसी विधान के अनुसार परिस्थिति बदलती रहती है। कर्मयोग वर्तमान परिस्थिति से साक्षात् होने तथा उसके अधिकतम सदुपयोग का विज्ञान है। यह श्रम एवं बल के सदुपयोग का प्रशस्त प्रामाणिक पथ है। मनुष्य अपने विवेक के अनुसार कर्त्तव्य का निर्णय अपनी वर्तमान परिस्थिति में करता है: सद्भाव भावित कर्त्ता सम्यक् संकल्प-पूर्वक कर्त्तव्य का संपादन पूरे उत्साह, कुशलता एवं सावधानी से, पूजा की तरह, अनुष्ठित करता है। कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष के लिए परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता का महत्व नहीं होता; उसे तो वर्त्तमान परिस्थिति में निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य का संपादन करना रहता है। कर्त्तव्य-निष्ठा या कर्त्तव्यपरायणता कर्मयोग की ही प्रक्रिया है। कर्त्तव्य उसे ही कहते हैं, जिसे करना चाहिए, जिसके करने का औचित्य है, अर्थात् जो विवेक से समर्थित हो। साथ ही, कर्त्तव्य उसे ही कह सकते हैं जिसे हम कर सकते हों, जिसके करने की शक्ति या योग्यता कर्त्ता में हो। जिसे हम कर ही नहीं सकते हों, वह हमारा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, यह भी महत्वपूर्ण है कि कर्त्तव्य का संबंध वर्तमान काल या परिस्थिति से है। यद्यपि इस तरह से भी होनेवाले कर्म का फल अवश्य ही होता है, किन्तु कर्त्ता को उसकी आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रहती है। उनके पूरे मन एवं क्रिया-शक्ति का नियोजन कर्त्तव्यपालन में रहता है। वह कार्य के संपादन में ही उत्साहपूर्ण, निष्ठावान और सावधान रहता है। इस प्रक्रिया के बाहर—फलाफल की दिशा में—उसके मन की कोई गति नहीं रहती। इस तरह कर्त्तव्य का सम्यक् संपादन होता है। इसके बाद स्वतः कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपने स्रोत की ओर लौटती हैं, तथा स्रोत-रूप मन भी कर्त्ता-भाव के क्षीण या विलीन होने के कारण अपनी मूल चिद्भूमि में विलीन होता है। इस तरह एक अद्भुत विश्राम का उदय होता है जो सभी प्रकार के योगों की आदिभूमि है। सम्यक् कर्त्तव्य-पालन से कर्त्ता-भाव का तिरोधान होता है। ईमानदार श्रम से व्यापक विश्राम में प्रवेश होता है। कर्त्तव्यपालन कर्मातीत जीवन की ओर ले चलता है। कर्त्तव्य-कर्म-निष्पादन से होनेवाली सहज निवृति के विश्राम में सभी प्रकार के योगों का उदयाकाश है।

वस्तुतः कर्म स्वयं कर्त्ता का ही चित्र होता है। अर्थात् कर्त्ता के अनुसार कर्म होता है। कर्त्ता किस भाव से भावित होकर कर्म करता है? उसका लक्ष्य क्या है? व्यक्तिगत सुखभोग के लिए कर्म में विलासिता-पूर्वक प्रवृत होता है या आवश्यक संकल्प की पूर्ति के लिए कर्त्तव्य-निष्ठा से?—कर्म का प्रेरणा-स्रोत कर्त्ता का संकल्प है, उसकी इच्छा या कामना है, जिसके अनुसार प्रवृत्ति होती है। विवेक के अनुसार आवश्यक संकल्प की पूर्त्ति में भी उसके पीछे कर्त्ता की भावना रहती है। भाव भी, गहराई से, कर्त्ता के समग्र लक्ष्य से अनुस्यूत रहता है। अर्थात् स्वार्थपरायण सामान्य कर्त्ता सुख-भोग की रुचि से कर्म में प्रवृत्त होकर कामना-पूर्त्ति या अपूर्त्ति के रूप में, सुख-दुख के रूप में उसका फल भोगी होता रहता है। कर्म से सुख की आशा का

भाव और उसके भोग का लक्ष्य लिए हुए कर्त्ता-भाव भोक्ता रूप में रहता है। स्वार्थ-भाव से सुख-भोग की रुचिपूर्वक कर्म करने पर सुख-दुःख, लोभ-भय के साथ-साथ, देह-भाव को दृढ़तर बनाते हैं। भोगवादी कर्मी सुख-दुख का भोगी, रोगी और मरणधर्मी होता है। अनावश्यक, भोगविद्ध संकल्पों में प्रवृत्त होकर वह कर्म के महाजाल में उलझता जाता है। उसे कर्मातीत जीवन की अखण्ड शान्ति या चिरविश्राम का संस्पर्श भी नहीं मिलता। दूसरी ओर, कर्त्तव्य-निष्ठा की भावना से आवश्यक संकल्प की पूर्ति में नियोजित होने पर सम्यक् विश्राम का संपादन होता है; कर्त्ता-भाव निःसंकल्प भूमि के प्रगाढ़ विश्राम में विलीन होता है, जहाँ अखण्ड शांति का सूत्र या अवस्थातीत जीवन का द्वार है।

कर्त्तव्यपरायणता सेवा का राजमार्ग है, कर्मयोग की प्रक्रिया है। सुख-भोग की रुचि तथा क्षुद्र, व्यक्तिगत स्वार्थ-भाव से ऊपर उठकर ही यह संभव होती है, और इसका सम्यक् अनुष्ठान सीमित अहम् भाव से उठने की प्रशस्त प्रक्रिया भी है। स्पष्ट है कि अकर्तव्य तथा अकर्मण्यता का त्याग हुए बिना कर्त्तव्यपरायणता का पथ प्रशस्त नहीं होता। अकर्त्तव्य के त्याग से सहज ही कर्त्तव्य-बोध तथा उसके पालन की शक्ति का उदय होता है। विवेक-विरोधी कर्म को स्वीकार किए हुए कर्त्तव्य का निर्णय और पालन नहीं होता। व्यक्तिगत सुख-भोग की किसी प्रकार की कामना रखकर सच्ची सेवा नहीं होती। किन्तु सेवा के अनुष्ठान से व्यक्तिगत कामना क्रमशः शिथिल होती है और इस तरह मनुष्य सच्चा सेवक या निष्काम कर्मयोगी हो सकता है। सेवा और कर्त्तव्यपरायणता में कर्मयोग का प्रारंभ है, और यही उसकी परिणति भी है। कर्त्तव्य जो वर्तमान में उपस्थित है, सर्वहितकारी भाव से या ईश्वर प्रीत्यर्थ निष्पन्न किए जाने से कर्त्ता को निवृत्तिमय चिर-विश्राम से अभिन्न करने के माध्यम हैं। इनके पालन में प्रमाद या आलस्य के वशीभूत होने से अकर्त्तव्य का पोषण होता है। कर्त्तव्य-पालन होने पर ही योगी को योग, भक्त को भक्ति या ज्ञानी को ज्ञानस्वरूप से अभिन्न होने की योग्यता होती है। अतः यह सबके लिए अनिवार्य है। कर्त्तव्य-कर्म पालन करना कर्मयोग की प्रक्रिया ही है।

कर्त्ता में संकल्प या कामनाओं की पृष्ठ-भूमि में क्या रहता है? स्पष्ट ही कामनाएँ सुख-भोग की रुचि से जुड़ी रहती हैं। अब अगर यह भी प्रश्न हो कि सुख-भोग की रुचि कैसे हुई? तो उत्तर यही बन पाता है कि स्वयं को या 'मैं' को देह मानने से। यह देहाध्यास अनादि अविद्या या अज्ञान या माया के कारण है। तो संकल्प के अनुसार प्रवृत्ति होती है। संकल्प या कामना ही कर्म की दिशा में पहले अन्तःकरण को और फिर बहिष्करण को प्रवृत्त करती है। सुख-भोग से आकर्षित चित्त की वासनाबिद्ध रुचि की तरंग—या काम संकल्पना स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों को कर्म में लगाये रहती है। बहुधा जिसे हम कर्मठता समझते हैं, वह यंत्रवत् जीने की तनावग्रस्त परवशता है; अपने आप से, अनिवार्य अकेलेपन से भागने की अंधतापूर्ण, न करने योग्य कर्मों का बहिरंतर व्यापी महाजाल हैं। बड़े-से-बड़े महाकर्मियों को भी स्थूल एवं सूक्ष्म संग्रहों के बाद भी 'कुछ और' लगे रहने के कारण कर्मान्त नहीं प्राप्त होता; कर्मातीत अनंत जीवन में उनका प्रवेश नहीं होता।

प्रवृत्ति कर्म में नियोजित करती है। कामना की पूर्ति के लिए श्रम करना पड़ता है। संकल्प या कामना की पूर्ति में हम अपनी प्रवृत्ति-शक्ति से परिचालित होते हैं। प्रवृत्ति के श्रम से थककर मनुष्य सहज ही निवृत्ति में लौटता है। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का यह विधान प्राकृतिक है, सनातन है। इस दृष्टि से देखने पर व्यक्ति का सारा जीवन प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की दो परस्पर पूरक गतियों से भरा हुआ प्रतीत होता है। स्पष्ट है, प्रवृत्ति की दिशा बहिर्मुख किन्तु निवृत्ति अंतर्मुखी होती है। प्रवृत्ति की दिशा अपने से, अपने केन्द्र से, बाहर की ओर किन्तु निवृत्ति की दिशा अपने ही

भीतर की ओर होती है। प्रवृत्ति अपने आप में बुरी नहीं होती। विवेकालोक में परीक्षित शुद्ध-संकल्प से शुभ प्रवृत्ति होती है। शुद्ध कर्त्ता में शुभ-संकल्प होते हैं। शुभ-संकल्प से शुभ प्रवृत्ति होती है। कर्म पथ पर इस शुद्ध-संकल्प या प्रवृत्ति को निष्ठापूर्वक अनुष्ठित करने पर, प्रवृत्ति ही पूजा बन जाती है। प्रवृति शक्ति का सर्वाधिक सदुपयोग सेवा-भाव से क्रियान्वित होने में है। अर्थात् निषेधात्मक रूप से कहें तो, व्यक्तिगत सुखभोग की रुचि से तरंगित होकर प्रवृत्त होने पर, उस प्रवृति-शक्ति का सदुपयोग नहीं हो पाता। और विधानतः उपलब्ध होनेवाली निवृत्ति भी विश्राम रूप न होकर भोगावशिष्ट अनेक अन्य भोगों की सृष्टि करती रहती है जिससे कर्मान्त का पथ सुलभ नहीं होता बल्कि कर्मजाल ही सघनतर और बहुल हो जाता है। संकल्प प्राणित प्रवृत्ति का यज्ञ-भाव से—सेवा-भाव से, अनुष्ठित होने तथा कर्त्ता के परम इष्ट को समर्पित होने पर कर्म करने का फल निवृत्ति का अखंड विश्राम है। इस विश्राम के निरभ्र आकाश को फलभोगी कर्त्ता के व्यर्थ-चिंतन-रूप व्यामोह – मेघ आच्छादित नहीं करते! स्पष्ट है कि तभी निवृत्ति का विश्राम आध्यात्मिक स्तर पर उपयोगी होता है! विश्राम की अखंडता के संस्पर्श से संवेदनशील कर्मयोगी में अपने परमेष्ट के प्रति प्रबल आकर्षण तथा उसे उपलब्ध होने की तीव्र मानवीय माँग का संस्फुरण होता है।

प्रवृत्ति का सदुपयोग सेवा में करने से निवृत्ति विश्राममयी तथा शांत होती है। उसमें क्षुद्र, स्वार्थपूर्ण कामना की पूर्ति से उपजनेवाली नवीन कामनाओं का उद्वेग नहीं रहता, और न ही उसकी आपूर्ति के कारण होनेवाले व्यर्थ-चिन्तन की अशांति रहती है। प्रवृति की ऊर्जा का परहित में प्रयोग होने पर शेष विश्राम ही होता है, व्यर्थ-चिन्तन नहीं। प्रवृत्ति का परहित में उपयोग होने के लिए कर्त्ता को सम्यक् रूप से संस्कारित होना चाहिए। उसकी अहंता शुद्ध और सद्भाव भावित होगी। वह विवेकालोक में नियत किये हुए कर्त्तव्य में ही मनोयोगपूर्वक प्रवृत्त होता है और इस तरह उसकी निवृत्ति विश्रामपूर्ण होती है। कर्त्तव्य-पालन समाप्त होने पर वह स्वतः विश्राम को उपलब्ध होता है। उसके विश्राम में व्यर्थ-चिन्तन की विडम्बना नहीं रहती! न तो संकल्पपूर्ति होने पर स्वार्थी कर्मियों की तरह उसकी निवृत्ति का आकाश नवीन कामनाओं के धुन्ध से ही आच्छादित होता है। परिस्थिति किसी तरह की क्यों न हो—अनुकूल या प्रतिकूल—प्रवृत्ति-मात्र का परहित में उपयोग होने लगने पर निवृत्ति के विश्राम में अखंड शांति का संस्पर्श स्वतः प्राप्त होता है। प्रवृति का परहित की ओर यह समर्पित प्रवाह होने से कर्त्ता का चित्त शुद्ध होता है। निवृत्ति के विश्राम से संशुद्ध होकर चित्त या अहंता अखंड शांति में निहित अनंत शक्ति के चुम्बकत्व से संस्पंदित होती है। कर्मियों की तरह व्यक्तिगत सुख-भोग की अपेक्षा नहीं रहने के कारण उसकी निवृत्ति की बेला सहसा थकान, जड़ता या तमाच्छन्न निद्रा से आक्रान्त नहीं होती। प्रवृति-परायण कर्मयोगी तो प्रवृति का सदुपयोग करते हुए सार्थक तथा एक गहन निवृत्ति की रचनात्मक अखंड शांति या अनंत शक्ति से संयुक्त होने के द्वार पर होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि कर्मयोग कर्त्तव्य-परायणता है, प्रवृत्ति-शक्ति का परहित में नियोजन है, प्रवृत्ति-धर्मी-कर्त्ता द्वारा अपने इष्टदेव को समर्पित पूजा है, या जीवमात्र को समर्पित सेवा है। किसी भी तरह से चले, कर्त्ता को क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर ही चलना होगा। अथवा यह कहें कि व्यक्तिगत सुख-भोग की क्षुद्र लिप्सा से कर्म में प्रवृत्त नहीं होना होगा। यह कैसे संभव होगा? इसके लिए स्वयं कर्त्ता को ही सद्भाव से भावित होना होगा। उसकी अहंता पवित्र होनी चाहिए जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक-समर्थित-निर्णय हो सके और उसे निष्पन्न करने में पूरी ऊर्जा लगे, उत्साह हो तथा करने में पूरी सावधानी भी बरती जा सके। अहंता के पवित्र होने का क्या अर्थ है? अर्थात्

कर्त्ता का भाव कैसा है ? वह स्वयं कैसा है ? उसका लक्ष्य क्या है ? अपने संबंध में उसकी क्या स्वीकृति है ? इन्हीं प्रश्नों पर ध्यान देकर हम कर्त्ता की अहंता के पवित्र होने के संबंध में निर्णय कर सकते हैं।

कर्मफल की आकांक्षा से कर्म में प्रवृत्त होने पर सुख-दुःख का भोग अनिवार्य है। मनुष्य का लक्ष्य सुख-दुःख का भोग नहीं है। वह सुख-दुःख का भोगी होने के लिए अभिशप्त नहीं है। मानव-जीवन सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर है। उसका लक्ष्य है : शान्ति, चिन्मयता और आनन्द। कर्मयोग अखंड शान्ति की ओर चलने-वाला पथ है—परिस्थितियों के सुख-दुःख से अतीत की ओर। फलाकांक्षी या सुख भोगी कर्मयोगी नहीं होता और न तो अनेक सफलताओं के बाद भी वह शांति के द्वार पर ही होता है। मानव-जीवन योग या साधना का जीवन है, भोग और वासना तो उसकी पतित अवस्थामात्र है। हम मानव होने के नाते साधक हैं, योगी हैं; और हमारा लक्ष्य अखंड-अनंत रसरूप जीवन है, अगर हमारी अहंता में इस लक्ष्य की स्वीकृति हो तो हम निष्काम कर्मयोग के द्वारा, बल के सदुपयोग के द्वारा, कर्तव्य-विज्ञान के अनुसार कर्म-पथ पर चलकर, योग की अखंड शांति से अभिन्न हो सकते हैं। कर्मयोगी का चित्त शुद्ध होकर योग के अखंड, शांत रस में प्रवेश करता है, जो नित्य, चिन्मय एवं स्वाधीन जीवन का सनातन द्वार है। दूसरी तरफ, मोह-ममता से आच्छन्न प्राणी को ही पराधीन और नीरस जीवन सह्य होता है। अपने को साधक स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि पराधीन और नीरस जीवन असह्य हो जाय। कर्मयोगी का लक्ष्य शांत, स्वाधीन और चिन्मय जीवन है। कर्मयोग की निष्ठा का परिपाक चित्तशुद्धि के रूप में होने पर स्वतः ज्ञाननिष्ठा का उदय होता है।

नारद-भक्ति-सूत्र

—स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज

सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥६४॥

अभिमानदम्भादिकं (अभिमान, दम्भ आदि का) त्याज्यम् (त्याग करना चाहिए) ॥६४

अभिमान, दम्भ आदि का त्याग करना चाहिए ॥६४

'आदि' शब्द के द्वारा काम-क्रोध आदि हीन मानसिक वृत्तियाँ जानी जाती हैं। इन सबका भी त्याग करना होगा।

बाहरी बाधा की अपेक्षा भीतर की बाधा अधिकतर प्रबल होती है। हमलोगों के सभी दुःखों के मूल में है—यही 'कच्चा मैं'। 'मैं' के मर जाने से ही संसार का जंजाल मिट जायगा।' 'मैं प्रभु का भक्त हूँ।'—यह अभिमान अच्छा है—यह अभिमान हमलोगों को अनुचित कार्य करने से रोकता है। किन्तु—'चूँकि मैं सेवा-पूजा करता हूँ, मैं भक्त हूँ, इसलिए मैं दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ, दूसरों की भक्ति और श्रद्धा का पात्र हूँ'—इस प्रकार का अहंकार 'कच्चा मैं, से उत्पन्न होता है और साधक को पतन के पथ पर ले जाता है।

"मैं कर्त्ता हूँ'—जीव का यह अभिमान अज्ञान से उत्पन्न होता है। अहंकार के रहते मुक्ति नहीं हो सकती। नीचा होने पर ही ऊँचा हुआ जाता है। अहंकार करना व्यर्थ है, धन-मान-यौवन कुछ भी बहुत दिनों तक नहीं रहेंगे।

" 'मैं-मैं' करने पर कैसी दुर्गति होती है यह बैल की हालत देखने पर ही समझ सकोगे। बैल हाम्बा-हाम्बा (मैं-मैं) करता है, इसी से इतनी यातना झेलता

है। गर्मी हो, वर्षा हो—सुबह से शाम तक हल जोतना पड़ता है। कसाई उसे काट डालता है। लोग उसका मांस खा जाते हैं। चमड़े से जूता बनता है या ढोलक छाने का चमड़ा बनता है। जूता पहनकर उससे कितना चला जाता है, ढोलक को लकड़ी से कितना पीटा जाता है। तब भी निस्तार नहीं, अंत में उसकी आंत से तांत बनती है। तब धुनियें के हाथ में पड़कर तूँ-ही, तूँ-ही करने पर निस्तार हुआ। तूँ-ही, तूँ-ही (तुम-तुम) अर्थात् हे ईश्वर, तुम कर्त्ता हो और मैं अकर्ता हूँ।"

"अभिमान का त्याग करना बड़ा कठिन है। यह विचार करते हो कि अभिमान कुछ नहीं है, फिर कहाँ से वह आ जाता है? अभिमान की जड़ मरने पर भी नहीं मिटती। सपने में भय हुआ है। नींद टूटने पर जग उठे हो। तब भी छाती-छाती धक्-धक् करती है। अभिमान ठीक उसी तरह है। तारण देने पर भी फिर कहाँ से आ जाता है!"

"'मैं' का त्याग नहीं करने पर नहीं होगा। 'मैं' रूपी टीले को भक्ति के जल में भिगाकर समतल कर दो।—'कच्चा मैं' का त्याग करना होगा। 'पक्का मैं' में दोष नहीं है। कच्चा मैं,—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं कायस्थ हूँ, मैं अमुक का लड़का हूँ, मैं अमुक का पिता हूँ, ये सब अविद्या के 'मैं' हैं--जिनसे मैं कर्ता हूँ, मैं विद्वान् हूँ, इन्हीं सब का बोध होता है। ऐसा चिन्तन बन्धन ले आता है। और 'पक्का मैं' है—बालक का मैं, विद्या का मैं, ईश्वर का दास हूँ मैं, भक्त का मैं—इसे खाते, सोते, बैठते हर समय स्मरण रखना चाहिए।"

"टीले पर खेती नहीं होती। गहरी जमीन चाहिए, उसी में पानी जमा होता है, तब खेती होती है। इसी प्रकार जहाँ अहंकार है, वहाँ उनकी कृपा का जल ठहर नहीं पाता। दीन-हीन भाव ही अच्छा है। अभिमान-अहंकार ज्ञान से होता है कि अज्ञान से होता है, बताओ? अहंकार तमोगुण है, वह अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही पर्दा है, जिससे ईश्वर को नहीं देखा जाता है। सामान्य आधार होने पर गेरुआ पहनने से अहंकार होता है; हल्की त्रुटि होने पर क्रोध होता है, अभिमान होता है।"

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभावयुक्त व्यक्तियों में दम्भ (धर्मध्वजिता), दर्प (धन-जन आदि के लिए दर्प), अहंकार, क्रोध, कर्कश स्वभाव आदि दोष देखे जाते हैं। गीता १६।४

आसुरी स्वभाव से युक्त व्यक्तियों की मनोवृत्ति किस प्रकार हीन होती है और इस प्रकार के स्वभाव के फलस्वरूप उन लोगों का कैसा अधःपतन होता है इस विषय में भगवान बाद में कहते हैं।

आसुरी स्वभाववाले व्यक्ति, किस उपाय से धर्म में प्रवृत तथा अधर्म से निवृत होना होगा, यह नहीं जानते हैं। वे सब शौच और सदाचार का पालन नहीं करते, सत्य का भी अनुसरण नहीं करते। वे कहते हैं, 'यह संसार मिथ्या व्यवहार से चलता है, यहाँ धर्म-अधर्म का कोई स्थान नहीं है, इसके नियन्ता कोई ईश्वर भी नहीं हैं। यह संसार काम के वशीभूत स्त्री और पुरुष के सम्मिलन से उत्पन्न है; इसका अन्य कोई कारण नहीं है।' विश्व के विनाश के लिए इस प्रकार के हित-अहित के विचार से शून्य, हीनबुद्धि, निष्ठुर व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अन्तःकरण अशेष कामना-वासना से परिपूर्ण रहता है। धर्मध्वजिता, अहंकार और अभिमान में मत्त होकर ये व्यक्ति सब मोहाभिभूत हो असत् उपायों का अवलम्बन कर विविध अमंगलकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। काम के उपभोग में ही जीवन की सार्थकता है, ऐसा विचारकर सैकड़ों आशा-पाश में बद्ध ये कामी और क्रोधी व्यक्तिगण अपनी भोग-वासना को पूर्ण करने के उद्देश्य से आजीवन अनुचित उपायों के सहारे धन इकट्ठा करने की चेष्टा करते हैं। 'आज मुझे यह लाभ हुआ है, मेरी यह मनोकामना भविष्य में पूरी होगी, आज मुझे यह धन है, भविष्य में मेरा और भी इतना ऐश्वर्य बढ़ेगा, इन सब शत्रुओं का मैंने नाश किया है, भविष्य में बचे हुए सभी शत्रुओं का ध्वंस करूँगा, मैं महाऐश्वर्यशाली और शक्तिमान् हूँ, मैं भोगी, सुखी और सद्वंश में उत्पन्न हूँ, मेरे समान

संसार में कोई और नहीं है, मैं यज्ञ करुँगा, दान करूँगा, आनन्द करूँगा, इस प्रकार के अनगिनत चिन्तनों के वशीभूत मोह-मुग्ध अज्ञानी व्यक्तिगण घोर अमंगलकारी नरक में गिरते हैं।'

गीता १६।७-१६।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् (समस्त कर्म ईश्वर को समर्पण कर) कामक्रोधाभिमानादिकं (काम, क्रोध, अभिमान आदि) तस्मिन एव (इष्ट के ऊपर) करणीयम् (करना होगा) ॥६५

सारे कर्म इष्ट को समर्पण कर काम, क्रोध, अभिमान आदि उनके ऊपर ही करना ॥६५

अन्य सभी साधन पथों में दिवारात्रि प्रवृत्ति समूहों के साथ संग्राम कर उनका नाश करना पड़ता है। किन्तु भक्ति मार्ग में इस प्रकार के संग्राम की आवश्यकता नहीं होती। भक्त प्रतिक्षण इष्ट की आराधना में मत्त रहने की चेष्टा करते हैं। मन प्राण इन्द्रियवृत्तियाँ सभी उनकी सेवा में लिप्त रखने की चेष्टा के फलस्वरूप भोगों की प्रवृत्तियाँ स्वयं शान्त हो जाती हैं। तब भी यदि काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ सिर उठाकर भक्त को इष्ट से विमुख करना चाहें तो भक्त उन सबको इष्ट की ओर मोड़ देते हैं। भक्त व्याकुल भाव से ईश्वर को ही पाने की कामना करते हैं। भक्ति-विरोधी विषयों के ऊपर उन्हें क्रोध आता है।—'मैं ईश्वर का भक्त हूँ,' 'इष्ट की भाँति मेरा दूसरा कौन अपना है,' अथवा 'उन्होंने मुझपर दया नहीं की, अब और उन्हें नहीं पुकारूँगा।' इस प्रकार का अभिमान, भक्त को इष्ट-चिन्तन में ही लिप्त रखता है। गोस्वामी नरोत्तम दास प्रवृत्तियों की दिशा मोड़ने के लिए इस प्रकार का विधान प्रस्तुत करते हैं—

काम-क्रोध-लोभ-मोह, मद मात्सर्य दम्भसह,
स्थाने-स्थाने नियुक्त करिबो।
आनन्द करि हृदय, रिपु करि पराजय,
अनायासे गोविन्द भजिबो॥
कृष्ण सेवा कामार्पणे, क्रोध भक्तद्वेषी जने,
लोभ साधुसङ्गे हरिकथा।
मोह इष्टलाभ विने, मद कृष्ण गुणगाने,
नियुक्त करिबो यथा तथा॥
अन्यथा स्वतन्त्र काम, अनर्थादि जार नाम,
भक्तिपथे सदा देय भङ्ग।
किवा से करिते पारे, काम-क्रोध साधकेरे,
यदि हय साधुजनार सङ्ग॥

"भगवान की शरणागत होकर लज्जा, भय इन सबका त्याग करो। मैं यदि हरि का नाम लेकर नाचूँ तो लोग मुझे क्या कहेंगे, इन सबका त्याग करो। 'लज्जा, घृणा, भय—तीन थाकते नय।' (लज्जा, घृणा और भय तीनों के रहने से कुछ उपलब्ध नहीं होगा।) लज्जा, घृणा, भय, जाति, कुलशील, लोक-निन्दा, सङ्कोच, छिपाने की इच्छा, अभिमान—इन सब पापों का त्याग नहीं करने पर कोई भी ईश्वर-लाभ नहीं कर पाता।"

"काम क्रोधादि षड्-रिपु तो सहज ही नहीं जायेंगे; इन सबको ईश्वर की ओर मोड़ दो। ईश्वर की कामना करो। सच्चिदानन्द के साथ रमण करो। जो लोग ईश्वर के पथ में बाधा उत्पन्न करें, उनके ऊपर क्रोध करो। फिर भक्ति का तमोगुण लाने पर क्रोध चला जायगा। मैं दुर्गा का नाम जपता हूँ, फिर मुझे बन्धन क्या? पाप क्या? इसके बाद भगवान को पाने के लिए लोभ करो। 'मेरा-मेरा' यदि करना हो तो ईश्वर को लेकर करो; जैसे 'मेरे कृष्ण', 'मेरे राम।' उनके रूप पर मुग्ध होओ। यदि अहंकार करना हो तो विभीषण की तरह करो।—'मैंने राम को प्रणाम किया है, यह माथा और किसी के सामने नहीं झुकाऊँगा।' यदि मद अर्थात् मत्तता करनी हो, अहंकार करना हो,

तो 'मैं ईश्वर का दास हूँ,—मैं उनका बेटा हूँ"—यही अहंकार करो। इस प्रकार छओं रिपुओं को मोड़ दो। काम मानो वृक्ष का मूल है, कामना मानो डाल-पत्ते हैं। सम्पूर्ण मन ईश्वर को नहीं देने पर दर्शन नहीं होता।

"समस्त कर्म-फल ईश्वर को समर्पित करने होंगे। स्वयं कोई फल-कामना नहीं करनी है। तब भक्ति की कामना, भक्ति के लिए प्रार्थना कर सकते हो। भक्ति की कामना कामनाओं में नहीं गिनी जाती। भक्ति का तमोगुण लाना। माँ के सामने जोर-जबर्दस्ती करो। तुम्हारी जो अपनी माँ है, वह तो मानने की माँ नहीं है, वह तो धर्म-माँ नहीं है, उसके आगे जबर्दस्ती नहीं चलेगी, तो किसके आगे चलेगी ?"

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास-नित्यकान्तात्मकं वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यम् इति ॥६६॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं (तामसिक, राजसिक और सात्त्विक भक्ति के पार जाकर—अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं आर्त भक्त के भावों का भी अतिक्रमण कर) नित्यदास—नित्य-कान्तात्मकं (सर्वदा दास-भाव या कान्ता-भाव से भजनरूपी) प्रेम एव कार्यम् (प्रेम में मग्न होना चाहिए ॥६६

तामसिक, राजसिक और सात्त्विक भक्ति के पार जाकर—गुणातीत होकर—सर्वदा दास-भाव या कान्ता-भाव का आश्रय लेकर प्रेम में मग्न रहना चाहिए ॥६६

सत्व, रजः, तमः—इन तीनों गुणों के बन्धन में जीव बद्ध है। इन तीनों गुणों के बन्धनों को तोड़ना होगा—नहीं तो पराभक्ति नहीं आयेगी।

आर्त आदि भावों से जो भक्ति होती है वह परा-भक्ति की प्राप्ति की सीढ़ी मात्र है। यहाँ अंतिम सीढ़ी की बात हो रही है। इस सीढ़ी पर भी 'मैं' का लेश, थोड़ा भेद-भाव रहता है। नहीं तो रसास्वादन नहीं होता। किन्तु, परम प्रेम में उसका भी लोप हो जाता है।

तीनों गुणों के बन्धनों का अतिक्रमण कर एवं आर्त आदि भावों का भी अतिक्रमण कर नित्यदास या नित्य-कान्ताभाव का आश्रय लेकर प्रेम की साधना करनी होगी। दास्य एवं मधुर भाव ग्रहण करने से उनके अन्तर्वर्त्ती सख्य एवं वात्सल्य-भाव भी गृहीत हुए।

"भाव क्या है, जानो हो ? ईश्वर के साथ एक सम्बन्ध स्थापित करना, इसका ही नाम भाव है। एक भाव को दृढ़ रूप से पकड़कर, ईश्वर को अपना बना लेना होगा, तभी तो उनके ऊपर जोर चलेगा !

'दास भाव से सभी भाव आते हैं—शान्त, सख्य आदि। मालिक यदि नौकर से प्रेम करता है, तो उसको अपने पास बैठाकर कहता है 'मैं जो हूँ, तू भी वही है।'

"शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य या मधुर—इन सब में एक भाव का आश्रय नहीं करने पर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता। ऋषियों का शान्तभाव था। उन लोगों को और कुछ भोग करने की इच्छा नहीं होती थी। जैसे स्त्री की पति में निष्ठा होती है। वह समझती है कि मेरा पति कामदेव है। हनुमान का दास्यभाव था। जब राम का काम करते थे तब सिंह के समान करते थे। पत्नी में भी दास-भाव रहता है, इसी से वह स्वामी की प्राणपण से सेवा करती है। माँ में भी कुछ रहता है; यशोदा को भी था। सख्य—बन्धुभाव है। श्रीदाम आदि कृष्ण को कभी जूठा भोजन कराते हैं, कभी उनके कंधे पर चढ़ जाते हैं। कहते हैं, आओ, समीप आकर बैठो। वात्सल्य-भाव—यशोदा का था। पत्नी में भी कुछ-कुछ यह भाव रहता है। वह अपने स्वामी को भरपूर भोजन कराती है। कृष्ण को कब खाने की इच्छा होगी इसका ठिकाना नहीं, इसलिए यशोदा सदा हाथ में मक्खन रखती थी। लड़का यदि भर पेट खाना खा ले तभी माँ आनन्दित होती है। मधुर भाव—जैसे राधा का था। पत्नी में भी मधुर भाव है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये सब मधुर भाव के अन्तर्गत ही हैं। केवल सिद्ध अवस्था में ही सभी भाव अच्छे लगते हैं। उस अवस्था में कामगन्ध नहीं रहेगी।" (क्रमशः)

★